
अवधारणा कोश

Concept Bank

बी.ए. (द्वितीय सत्र) के विद्यार्थियों के
लिए

For B.A. Second Semester Students



डॉ. बी.आर. अम्बेडकर
विश्वविद्यालय दिल्ली
Dr. B.R.Ambedkar
University Delhi

अवधारणा सूची :-

शासन, विधि और नागरिकता (Law, Governance & Citizenship)

राष्ट्रवाद तथा भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में प्रयुक्त

अवधारणाएं (Concepts used in Nationalism and the Struggle for Indian Independence) 4

- उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन (Anti colonial Movement) 4
- सबाल्टर्न (Subaltern) 10
- सामुदायिक विवाद/सांप्रदायिकता (Sectarianism) 12
- टकराव (confrontation) 13
- साम्यवाद (communism) 14

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन (Modern Indian Political thought) 20

- समुदाय (Community) 20
- धर्मनिरपेक्षता (Secularism) 23
- समाजवाद (Socialism) 26
- लोकतंत्र के प्रतिरूप (Models Of Democracy) 29
- अभिजनवाद (Elitism) 31

गांधी चिंतन (Reading Gandhi) 34

- राजनीतिक (Political) 34
- निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) 38
- आधुनिक सभ्यता की आलोचना (Critique of Modern Civilization) 43
- विकेन्द्रीकरण (Decentralization) 46

इतिहास (History)

- जाति और वर्ण [Caste and Varna] 48
- सामंतवाद (Feudalism) 61

सामाजिक संगठन : जेंडर और परिवार (Social Organisation : Gender Family & Household) 74

- जेंडर (Gender) 74
- प्रतिरोध (Resistance) 75

○ अलगाव (Alienation)	76
वैश्विक मुद्दे (Global Affairs)	
आधुनिक राज्य की दक्षिण एशियाई राहें (South Asian Trajectories of the Modern State)	78
○ उत्तर-औपनिवेशिकता (Post Colonialism).....	78
○ राज्य (State).....	84
○ वैधता (Legitimacy)	98
○ सम्प्रभुता [Sovereignty].....	102
○ अधिकार [Emancipation].....	109
○ परम्परा [Tradition]	114
○ सत्ता (Power).....	120
○ सुधार (Reform).....	127
○ स्वराज (Swaraj)	132
परिवेश के जरिये शहरों की समझ (Reading Cities through neighbourhood).....	136
○ सामाजिक स्तरीकरण (Social hierarchy).....	136
○ मौखिक आख्यान (Oral narratives)	142
○ भाषायी साम्राज्यवाद (Linguistic imperialism).....	147
शहरी पर्यावरण (Urban Environment)	149
○ पारिस्थितिकी (Ecology).....	149
○ शहरीकरण या नगरीकरण (Urbanization)	152
अर्थशास्त्र की अनिवार्यता (Essentials of Economics)	155
○ समष्टि अर्थशास्त्र (Macroeconomics)	155
○ व्यष्टि अर्थशास्त्र (Microeconomics)	156
○ मुद्रा-स्फीति (Inflation).....	157
○ सकल घरेलू उत्पाद (GDP).....	160
○ मांग एवं पूर्ति (Demand and Supply)	161
○ आपूर्ति (Supply).....	163
तर्क और वितर्क (Logic and Reasoning).....	164
○ माध्य / मध्यमान (Mean).....	164

○ बहुलक / बहुलांक (Mode)	166
○ मध्यका / मध्यांक (Median).....	168
○ समुच्चय (Set).....	169
इतिहास-दर्शन आधारित उपन्यास (Historiographic Novels)..	171
○ होलोकास्ट (Holocausts)	171
○ इतिहास (History)	173
भाषा समाज और संस्कृति (Language Society and Culture)..	176
○ बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism).....	176
○ बहुभाषिकता (Multilingualism).....	180
सन्दर्भ सूची:	184

शासन,विधि और नागरिकता (law,Governance and Citizenship)

राष्ट्रवाद तथा भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में प्रयुक्त अवधारणाएं (Concepts used in Nationalism and the Struggle for Indian Independence)

उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन (Anti colonial Movement)

बीसवीं सदी का पहला दशक भारतीय राजनीति के लिए राष्ट्रवादी भावनाओं के उफान का था। उपनिवेशवाद विरोधी भावनाओं और निरंतर बलवती होती स्वतंत्रता की भारतीय उत्कंठा को देखते हुए ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने नयी सदी में इस घोषणा के साथ प्रवेश किया कि उनका मकसद कांग्रेस पार्टी का अंत करना है जिसके नेतृत्व के भीतर राष्ट्रवाद के दो संस्करणों के बीच जद्दोजहद चल रही थी। भारत के नये वायसराय लॉर्ड कर्जन ने 1903 में स्पष्ट रूप से कहा कि भारत प्रवास के दौरान वे राष्ट्रवाद के इस मंच को नष्ट कर देंगे। 1857 की राज्य-क्रांति से सबक सीख कर अंग्रेजों ने उपनिवेशियों के विक्षोभ को निकालने के लिए एक 'सेफ्टी वाल्व' की तरह कांग्रेस का गठन किया था। लेकिन अब यह संगठन पहले की तरह ब्रिटिश राज के लिए निरापद नहीं रह गया था। कांग्रेस के राष्ट्रवादी नेतृत्व का एक हिस्सा (नरम दल) तो ज्ञापनों, प्रतिवेदनों और धीरे-धीरे आगे बढ़ने वाले सांविधिक सुधारों के ज़रिये स्व-शासन का सीमित मॉडल उपलब्ध करने के पक्ष में था, लेकिन

उसके नेतृत्व का दूसरा और जनता के बीच कहीं ज़्यादा लोकप्रिय हिस्सा (गरम दल) पूर्ण स्वराज की माँग उठाने की आवश्यकता रेखांकित कर रहा था। पार्टी के इन दोनों धड़ों के बीच पहला बड़ा विभाजन 1907 के सूरत अधिवेशन में हुआ। 1907 से पहले माना जाता था कि कांग्रेस वकीलों, शिक्षकों और बुद्धिजीवियों का एक ऐसा संगठन है जिसका जनता से सीधा संपर्क नहीं है। आम धारणा यह थी कि राजनीतिक चेतना जगाने और उपनिवेशवाद की आलोचना विकसित करने के बावजूद ब्रिटिश राज की शक्ति पर प्रहार करना उसके बूते की बात नहीं है। दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता आदि नरमपंथी नेता सुधारवादी दृष्टि के साथ बँधे होने के कारण नये समय की वास्तविकता नहीं पहचान रहे थे। इतिहासकार बिपन चंद्र के अनुसार नरमपंथियों की विफलता का मुख्य कारण यह था कि वे विकसित होते हुए राजनीतिक घटनाक्रम के अनुरूप अपनी रणनीति में आवश्यक फेरबदल नहीं कर पाते थे। उन्हें यह एहसास नहीं हो पा रहा था कि उनकी खुद की उपलब्धियों ने ही उनकी राजनीति को अव्यावहारिक बना दिया था। ऐसे संक्रमणकालीन समय में नरमपंथ-गरमपंथ के ध्रुवीकरण ने उपनिवेशवाद विरोधी स्वाधीनता आंदोलन को एक नये मुकाम पर पहुँचा दिया।

यह एक दिलचस्प तथ्य है कि गरमदली कांग्रेसियों ने राष्ट्रवाद की जिन भावनाओं के हवाले से अपनी दावेदारियाँ की थीं, उन्हें परवान चढ़ाने में नरमदलियों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता था। यह सही है कि नरमपंथी राजनीति सरकार से सीधे टकराव मोल लेने के स्थान पर उससे

संवैधानिक रियायतों की माँग करने, सरकार की नीतियों पर बौद्धिक बहसें करने और शासन में उसका सहयोग करते हुए ही हिस्सेदारी की माँग करने जैसी नीतियों पर आधारित थी। ब्रिटिश राज के समय आधुनिक शिक्षा व प्रशासन के फलस्वरूप विकसित संस्थागत सार्वजनिक क्षेत्र के राजनीतिक इस्तेमाल को लेकर नरमदलियों में गहरा आग्रह था। लेकिन उनकी इसी राजनीति के दौरान ब्रिटिश लोकतांत्रिक परंपराओं से ग्रहण की गयी नागरिकता, सिविल सोसाइटी, कानून के समक्ष सभी की समानता, मानवाधिकार और सामाजिक न्याय की अवधारणाओं का प्रयोग उपनिवेशवाद की आलोचना के लिए किया गया। इसी आलोचना के गर्भ में भारतीयता और भारतीय राष्ट्रवाद के बीज पनपे, और स्वतंत्रता की आकांक्षा प्रबल हुई। ज़ाहिर है कि आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद को मंच पर लाने में इन्हीं आरंभिक कांग्रेसी नेताओं और ऐसे ही दूसरे संगठनों का अहम योगदान था। 1905 में ब्रिटिश सरकार ने स्वाधीनता आंदोलन में फूट डालने, सांप्रदायिकता की भावनाएँ भड़काने और अपनी दमनकारी शक्तियों से जनता के मन में खौफ पैदा करने के लिए बंगाल के दो टुकड़े कर दिये। अंग्रेज़ों के इस हथकंडे ने राष्ट्रवाद की चिंगारी को और भड़का दिया। परिणामस्वरूप कांग्रेस के भीतर गरमपंथी नेताओं को अधिक आक्रामक होने का मौका मिला। ब्रिटिश सामानों का बहिष्कार, स्वदेशी का प्रचार और अंग्रेज़ी प्रशासन-सरकार से असहयोग का कार्यक्रम नयी आंदोलनकारी रणनीतियों के रूप में विकसित होने लगा। कांग्रेस के पुराने नरमपंथी नेता आंदोलन के इन नये रूपों के प्रति बहुत सहज न थे। उन्हें लगता था कि इससे सरकार को दमन के नये बहाने मिलेंगे और स्वाधीनता आंदोलन छिन्न-

भिन्न हो जाएगा। बंग-भंग का हथकंडा चलाने वाले लार्ड कर्जन जैसे कठोर साम्राज्यवादी प्रशासक के सामने नरमपंथियों की समझौतावादी तथा कोमल राजनीति की सफलता की संभावनाएँ लगातार कम पड़ती जा रही थीं।

दूसरी तरफ राष्ट्रीय राजनीति में बाल गंगाधर तिलक, विपिनचंद्र पाल, लाला लाजपत राय और अरविंद घोष जैसे नेता निरंतर जुझारू संघर्ष का आह्वान कर रहे थे क्योंकि उनका मानना था कि नरमपंथी नेता न तो जनता की शक्ति ठीक से आँक पा रहे हैं और न ही उसकी जागरूकता का सही मूल्यांकन कर पा रहे हैं। गरमपंथी समझे जाने वाले नेताओं ने नरमपंथियों की राजनीति का जम कर विरोध किया। उनकी राजनीति के केंद्र में हिंदू प्रतीकों, मिथकों तथा एक तरह से हिंदू किस्म की इतिहास-दृष्टि मौजूद थी। इसके बावजूद गरमपंथ की कांग्रेस के भीतर लोकप्रियता तेज़ी से बढ़ रही थी क्योंकि शिक्षा के विकास, स्वदेशी वस्त्र कंपनियों तथा भारतीयों द्वारा नये उद्योग-धंधों की स्थापना ने वह भौतिक आधार तैयार कर दिया था जिस पर खड़े हो कर भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश शासन को चुनौती दे सकता था।

नरमपंथ-गरमपंथ के बीच टकराव में राष्ट्रीय नेताओं के मतभेदों को ही नहीं बल्कि अंग्रेज़ी हुकूमत की रणनीतियों को भी जिम्मेदार माना जाता है। अंग्रेज़ी हुकूमत उपनिवेशवाद विरोधियों को एकजुट होने का मौका न दे कर उन्हें परस्पर लड़ाते रहना चाहती थी। इसी के तहत वह गरमपंथियों के दमन और नरमपंथियों की कुछ माँगें मानकर उन्हें अपने साथ जोड़ने की नीति भी अपना रही थी। उपनिवेशवादी चाहते थे कि दोनों धड़े एक दूसरे के खिलाफ बने रहें और यह सिद्ध करना आसान हो जाए कि राष्ट्रीय आंदोलन दिशाहीन

तथा कलह ग्रस्त है। सरकार युवाओं को भी कांग्रेस से दूर रखना चाहती थी। कलह ग्रस्त कांग्रेस से उन युवाओं का मोहभंग स्वाभाविक था जो नरमपंथी राजनीति को पहले ही लफ्फाजी मानने लगे थे। इन्हीं भावनाओं के तहत युवाओं में नरमपंथ या गरमपंथ के स्थान पर क्रांतिकारी आंदोलन के प्रति आकर्षण बढ़ा और देश भर में गुप्त संगठन तैयार होने लगे।

नरमपंथियों तथा गरमपंथियों के बीच मतभेद बनाये रखने और उन्हें अलग-थलग रखने की अंग्रेजों की नीति को व्यापक सफलता मिली। 1906 में कांग्रेस के कोलकाता अधिवेशन में टकराव लगभग उस हद तक पहुँच चुका था कि दोनों धड़े कांग्रेस के विभाजन पर तैयार हो गये थे। ऐसी सूरत में दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष पद प्रदान कर यह विभाजन टाल दिया गया। माना गया कि नौरोजी की सबको जोड़ने वाली क्षमता आगे भी दोनों धड़ों में एकता कायम रखने में कामयाब हो सकेगी। पर अगले वर्ष तक दोनों खेमों में कटुता और बढ़ गयी क्योंकि स्वदेशी, बहिष्कार आंदोलन, राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वशासन के विषय पर तकरार होती रही। पत्र-पत्रिकाओं में परस्पर विरोधी स्वर सामने आते रहे। नौरोजी, तिलक तथा गोखले जैसे परिपक्व नेता भी कांग्रेस के अन्य नेताओं के बीच-बीच मिल-जुल कर काम करने की संस्कृति का विकास नहीं कर पा रहे थे। नतीजा यह हुआ कि 1907 तक आते-आते तय हो गया कि कांग्रेस में विभाजन हो कर रहेगा।

गरमपंथी नेतृत्व को लगता था कि नरमपंथी नेता अपने संविधानवादी रुख के कारण अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष को सायास धीमा कर रहे हैं, जबकि नरमपंथियों को लगता था कि उन्होंने निरंतर संवाद, दबाव तथा वार्तालाप के

माध्यम से अंग्रेज़ हुकूमत को जिन माँगों को स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया है, वे गरमपंथियों के अतिवादी रवैये के कारण पूरी नहीं हो सकेंगी। वे बार-बार दमन का भय दिखा रहे थे जबकि गरमपंथी इसे सुविधावादी और कायरता की राजनीति मानते थे। सूरत में 26 दिसंबर, 1907 को कांग्रेस अधिवेशन से पहले दोनों पक्षों द्वारा एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाने, छींटाकशी करने तथा आरोप लगाने से राजनीतिक माहौल काफी तनावग्रस्त हो चुका था। अधिवेशन के दौरान गरमपंथी नेता स्वदेशी और बहिष्कार की नीति पर बार-बार नरमपंथियों से स्पष्ट प्रतिबद्धता की माँग करते रहे। टकराव बढ़ता गया और अंत में कांग्रेस अधिवेशन ज़बरदस्त हंगामे, तकरार तथा शोर के बीच पुलिस-दखल के साथ खत्म हुआ।

कांग्रेस के भीतर राष्ट्रीय आंदोलन की कार्यनीति को लेकर जारी बहस इस तरह खत्म होगी, इसके बारे में किसी ने सोचा तक नहीं था। दोनों गुट बिखर गये और कांग्रेस संगठन के तौर पर कमज़ोर पड़ती दिखने लगी। तिलक जेल चले गये, लाजपत राय विदेश रवाना हो गये और अरविंद घोष ने संन्यास का रास्ता पकड़ लिया। इतिहासकारों ने इसे राष्ट्रीय आंदोलन की क्षति के रूप में भी देखा है पर वस्तुतः यह क्षति नहीं बल्कि आंदोलन के अंतर्विरोध का परिणाम था जिसमें नयी स्थितियों में कांग्रेस अपना वैचारिक कायाकल्प नहीं कर पा रही थी और विभिन्न मतभेदों के कारण उसका सांगठनिक ढाँचा दरकना उसकी नियति बन चुका था। पर इस मतभेद के पीछे का यथार्थ यह भी है कि नरमपंथियों ने जहाँ उपनिवेशवाद के विरोध में राजनीतिक चेतना को खास मंजिल तक पहुँचाया, वहीं गरमपंथियों ने उत्कट बलिदानों, कष्ट

सहने की क्षमता और जुझारूपन की मिसाल प्रस्तुत कर जनता के बीच राजनेताओं की नयी उज्ज्वल छवि का निर्माण किया।

समाज और देश में उपनिवेशवाद विरोधी राजनेताओं को नायकत्व का दर्जा मिलना शुरू हो गया था। सूरत अधिवेशन में कांग्रेस के विभाजन के बाद अंग्रेज़ सरकार ने बल प्रयोग के साथ-साथ राजनीतिक हथकंडों का प्रयोग भी तेज़ कर दिया। मार्ले-मिंटो सुधारों के खोखलेपन से साफ़ होता जा रहा था कि नयी कौंसिलों में भारतीयों की संख्या तो बढ़ायी जा सकती है पर इससे उन्हें अधिकार-संपन्न नहीं बनाया जा सकता।

पहली नज़र में लगता है कि नरमपंथ-गरमपंथ के तीखे ध्रुवीकरण का अगर किसी ने सबसे अधिक लाभ उठाया तो वह अंग्रेज़ी राज ही था। लेकिन यह परिस्थिति एक नये उपनिवेशवाद विरोधी नेतृत्व की माँग भी कर रही थी। एक ऐसे नेतृत्व की जिसके तहत नरमपंथ और गरमपंथ की सकारात्मक प्रवृत्तियों का रचनात्मक संश्रय हो सके। यह ज़रूरत बीसवीं सदी के अगले दशक में उस समय पैदा हुई जब कांग्रेस का नेतृत्व गाँधी के हाथ में गया जिन्होंने इस पार्टी को एक राष्ट्रव्यापी जनांदोलन में बदल दिया। इसकी पहली संगठित अभिव्यक्ति असहयोग आंदोलन में हुई।

सबाल्टर्न (Subaltern)

‘सबाल्टर्न’ का शाब्दिक अर्थ होता है सत्ता की प्रभुत्वशाली संरचना के बाहर के लोग। ऐसा मातहत वर्ग जो सामाजिक-राजनीतिक-भौगोलिक रूप से औपनिवेशिक साम्राज्य तथा सत्ता के संभ्रांत इलाकों से बाहर है तथा प्रताड़ित है। इटली के प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिंतक एंटोनियो ग्राम्शी ने सबाल्टर्न शब्द का

विशेष रूप से अपने लेखन में प्रयोग किया था। उन्होंने सांस्कृतिक वर्चस्व (cultural hegemony) की व्याख्या करते हुए ऐसे लोगों के लिए इस शब्द का इस्तेमाल किया जिन्हें सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं से बहिष्कृत किया गया लेकिन उन्हें बहिष्कार के साथ-साथ नियंत्रण की यातना को भी भुगतना पड़ा। ग्राम्शी ने आमतौर पर इस शब्द का प्रयोग वर्ग (class) के व्यापक संदर्भ खासतौर पर समाज के निम्नवर्गीय समूह के लिए किया। उस समय वे जेल में थे और जेल प्रशासन से बचने के लिए उन्होंने इस शब्द का प्रयोग किया। 1970 के दशक से सबाल्टर्न इतिहास लेखन में नीचे से अध्ययन (history told from below) यानी उपनिवेशितों की दृष्टि से न केवल उपनिवेशकों की सत्ता बल्कि उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों विशेष तौर पर राष्ट्रवादी सिद्धांतों के आलोचनात्मक अध्ययन तथा उनकी सीमाओं की अभिव्यक्ति के लिए किया जाने लगा। भारतीय इतिहासकार रंजीत गुहा ने इतिहास के निम्नवर्गीय प्रसंग की इतिहास लेखन की अवधारणा पर बल दिया और उन्होंने जनता के नए इतिहास को लिखने पर बल दिया जिसमें सरकारी राष्ट्रवाद की दायरों से बाहर के जनसंघर्षों के इतिहास का लेखन किया जा सके। कुछ सिद्धांतकारों का मानना है सबाल्टर्न स्टडीज से जुड़े अध्ययन गैरपश्चिमी समुदायों (एशियाई, अफ्रीकी, मध्य-पूर्व) और पश्चिमी यूरोप-अमेरिका से संबंधों की व्याख्या की यूरोकेंद्रित पद्धति है। सबाल्टर्न शब्द जो कि आरंभ में मार्क्स तथा ग्राम्शी के लेखन में मुख्य रूप से सामाजिक वर्ग (सर्वहारा) की अवधारणा को व्यक्त करता था, वह आगे चलकर एडवर्ड सईद, मिशेल फूको व उत्तरआधुनिकतावादियों के लेखन में व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। उपनिवेशवाद, नवउदारवाद व भूमंडलीकरण की प्रक्रिया

में जिस प्रकार से नए किस्म का सामाजिक बहिष्कार व दमन पैदा होता है, उसकी व्याख्या के लिए भी इसका प्रयोग हुआ। हशिये के सभी लोगों, जिनमें भारत के संदर्भ में शूद्र जातियां, स्त्रियां, थर्ड जेंडर इत्यादि शामिल हैं, उनके सत्ता से संघर्ष को भी सबाल्टर्न के संघर्ष की परिधि में रखा गया।

सामुदायिक विवाद/सांप्रदायिकता (Sectarianism)

समाज में विभिन्न किस्म के संप्रदाय (sect) मौजूद होते हैं और वे जब असहिष्णुता तथा सामाजिक-राजनीतिक स्वार्थ आदि के कारण अन्य के विरोध में होते हैं तो उससे सामुदायिक विवाद व तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। उसे ही सामुदायिक-सांप्रदायिक विवाद कहा जाता है। उदाहरण के लिए भारत में शिया-सुन्नी, आर्यसमाजी-सनातनी, विभिन्न अखाड़ों, शैव-वैष्णव आदि के मध्य हिंसक झगड़ों का लंबा इतिहास रहा है। इन संप्रदायों के लोग अपने संप्रदाय के प्रति वफादार रहते हैं, पर अन्य संप्रदायों की विश्वासप्रणालियों का विरोध करते हैं। वे स्वयं को ईश्वर के अधिक निकट दिखाने, धर्मांतरण कराने या विरोधी को नष्ट करने के उन्माद में आकर सामूहिक हिंसा को सही ठहराते हैं। कई बार जो सांस्कृतिक-धार्मिक समूह रोजगार या आर्थिक क्षेत्र में स्वयं को कमजोर पाता है तो वह किसी अन्य समूह को इसके लिए उत्तरदायी मानकर हमले करने व हिंसा फैलाने जैसे कार्य करने लगता है। इसी प्रकार सामुदायिक झगड़े या पूर्वग्रह किसी समूह के द्वारा अपनी राष्ट्रवादी या सांस्कृतिक महत्त्वकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का रूप धारण कर सकता है। इसी प्रकार एक धर्म के भीतर कई समूहों-संप्रदायों, वर्ग-जाति, नृजातीय अस्मिता य भौगोलिक विभाजन हमेशा से

समाज में होते हैं, और इनसे सामुदायिक तनाव पैदा होते रहते हैं। आधुनिक संविधान व लोकतंत्र विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों के मध्य तनाव को दूर करने के लिए एक ओर तो कानूनी प्रावधान करता है तो दूसरी ओर सत्ता-संरचना में अधिक से अधिक समूहों की भागीदारी को सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। इसके अलावा विभिन्न पहचान वाले समूहों को एक सभ्य आधुनिक समाज में सहअस्तित्व की भावना से रहने के लिए प्रेरित करने के लिए बहुलतावाद (pluralism) को भी राजनीतिक सिद्धांत के तौर पर प्रचारित करता है।

टकराव (confrontation)

विभिन्न वर्गों, समूहों व राजनीतिक दलों में टकराव लगभग हर समाज में मौजूद होते हैं। इसमें आपसी विवाद की अवस्था में एक-दूसरे से बहस, तनावपूर्ण संबंध और हाथापाई जैसी चीजें घटित हो सकती हैं। कई बार टकराव बड़े स्तर पर होते हैं जिसमें पूरे राष्ट्र या कोई राज्य अन्य से विवाद में उलझ सकता है। मानवेतर प्राणियों से भी टकराव हो सकते हैं। टकराव को एक नकारात्मक चीज माना जाता है क्योंकि इसमें लोगों के वैमनस्यपूर्ण संबंध स्थापित होता है। इसमें किसी अच्छी चीज के लिए उनमें आमना-सामना न होकर किसी पीड़ाप्रद या बुरी बात के लिए टकराव होता है। शारीरिक स्तर पर प्रतिरोध के साथ-साथ विचार या ज्ञान के स्तर पर भी विरोध मौजूद रह सकता है, जैसे किसी प्रमाण, सत्य या विचारधारा से भी टकराव पैदा होते हैं। व्यक्तिगत व सामूहिक दोनों स्तरों पर लोग अन्य का विरोध करते हैं। कई बार समूह, जो कई व्यक्तियों का ही समुच्चय होता है, उसमें व्यक्तिगत स्तर

पर शुरू हुआ कोई विवाद आगे चलकर सामूहिक टकराव में बदल सकता है जो केवल वर्तमान के किसी उकसावे पर ही नहीं बल्कि अतीत की घटना या भविष्य की बातों पर आधारित हो सकते हैं। टकराव के बारे में समाजशास्त्रियों व मनोवैज्ञानिक ने अपने-अपने अनुशासनों में विचार किया है। समाजशास्त्रियों ने वर्ग, जाति, लिंग, क्षेत्र की विषमताओं का अध्ययन कर टकराव की उसकी मुख्य वजह माना और इन विषमताओं को घटाने में टकराव का समाधान देखा। दूसरी ओर मनोवैज्ञानिकों खासतौर पर मनोचिकित्सकों का मत रहा है कि टकराव को पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन समाज में मतभिन्नता, सांस्कृतिक सहिष्णुता तथा परस्पर सम्मान की भावना को बढ़ावा देकर टकराव को तीखा, हिंसक तथा कटुता से बचाया जा सकता है। इसे भी शांति और मित्रतापूर्ण बर्ताव का ही अंग बनाया जा सकता है।

साम्यवाद (communism)

साम्यवाद अंग्रेजी भाषा के शब्द 'Communism' का हिंदी अनुवाद है। जिसका अर्थ है— सम्पत्ति पर संयुक्त रूप से स्वामित्व रखना और मिलकर उपभोग करना। 1840 में फ्रांस में छपने वाली एक पत्रिका, जिसका नाम था 'न्यू मोरल वर्ल्ड' में सबसे पहले 'कम्युनिस्ते' शब्द का प्रयोग किया गया था। इस शब्द का प्रयोग समाजवादी विचारक 'केबट' के अनुयायियों के लिए किया गया था। 1840 में मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा प्रकाशित 'कम्युनिस्ट' घोषणा-पत्र में इसका प्रयोग एक गुप्त समाज-कम्युनिस्ट लीग के कार्यक्रम के लिए किया गया था। मार्क्स ने जान-बूझकर 'समाजवादी' शब्द के प्रयोग से

बचने के लिए 'कम्युनिस्ट' शब्द का प्रयोग 1848 में किया था। क्योंकि मार्क्स के अनुसार समाजवादी शब्द कल्पना लोकवादी पद्धति था। इसमें आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए हवाई योजनाएं बनाई जा रही थी। उस दौरान समाजवाद पूँजीपतियों द्वारा संचालित किए जाने वाला मध्यवर्गीय आंदोलन था। मार्क्स ने इस आंदोलन से अपने आंदोलन को अलग रखने के लिए इसे 'कम्युनिज्म' का नाम दिया था।

साम्यवाद की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने बताया कि साम्यवाद मानव-समाज के विकास की वह उत्कृष्टतम दशा है जब समाज में इस सिद्धांत को लागू करना संभव हो जाएगा कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाए और उसको उसकी आवश्यकता के अनुसार आवश्यक धन दिया जाए। 'साम्यवाद' क्या है? साम्यवाद पूँजीवाद के विरुद्ध एक क्रांति है। साम्यवाद समाज की वह व्यवस्था है जो वर्ग विहीन एवं राज्यहीन हो तथा उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का नियंत्रण हो। व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामूहिक लाभ की भावना विद्यमान हो। साम्यवाद समाजवाद का वह उन्नतिशील रूप है, जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रयोग शोषण के लिए ना होकर जन-कल्याण के लिए हो। यह एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता की वस्तुएं उपलब्ध होगी तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार काम करना पड़ेगा। इस प्रकार साम्यवाद सामाजिक विकास का अंतिम चरण हैं।

साम्यवाद के मूल सिद्धांत

साम्यवादी दर्शन व्यक्तिवादी तथा आदर्शवादी दर्शनों की तरह उलझा हुआ नहीं है। साम्यवाद समाज का संगठित एवं वैज्ञानिक अध्ययन है। इसके मूल सिद्धांतों के अंतर्गत देख सकते हैं-

(1) साम्यवाद पूंजीवादी व्यवस्था का विरोधी है। साम्यवाद पूंजीवादी व्यवस्था के विनाश में विश्वास करता है। साम्यवादी पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके एक सर्वहारा वर्ग द्वारा निरंकुश शासन स्थापित करना चाहते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त किए बिना साम्यवादी व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती है। जुलियर हेकर ने कहा है कि "पूँजीवाद मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक सुरक्षा तथा आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की पूर्ति करने में सर्वथा अयोग्य है।"

(2) साम्यवाद पूंजीवादी लोकतंत्र का विरोधी है। साम्यवादी लोग लोकतंत्र को पूँजीपतियों के लिए पूँजीपतियों की तथा पूँजीपतियों द्वारा सरकार मानते हैं। साम्यवादियों का मानना है कि लोकतंत्र वर्ग-व्यवस्था को उत्साहित करता है। लोकतंत्र में उत्पादन के साधनों का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण के बजाए व्यक्तिगत लाभ के लिए होता है। साम्यवादियों के अनुसार लोकतंत्र का अर्थ है सट्टेबाजी, अवसरवादिता, अनैतिकता, असमान वितरण तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का विकास। अतः साम्यवादी लोकतंत्र को अशक्तिशाली तथा घृणास्पद मानते हैं।

(3) साम्यवाद धर्म को उत्पीड़न की परिस्थितियों में पैदा हुआ मानता। वह उत्पीड़न को समाप्त करने की जगह उसे सहने की शक्ति देता है। धर्म गरीबों को और अधिक गरीब और अमीरों को और अधिक अमीर होने का मार्ग दिखाया है। धर्म ने हमेशा से गरीब को भाग्यवादी का प्रमाण-पत्र देकर उसे निष्क्रिय दास बनाना सिखाया है। राज्य की भाँति धर्म ने वर्ग-व्यवस्था को और भी अधिक जटिल बना दिया है। धर्म ने मनुष्य को अंधविश्वासी बनाया। इसी संदर्भ में मार्क्स ने भाग्यवादी दर्शन को शरारतपूर्ण तथा धर्म को जनता के लिए अफीम बताया था। धर्म का नाम लेकर जनता का आर्थिक तथा राजनैतिक शोषण किया जाता है। अतः साम्यवाद धर्म में विश्वास नहीं करता है।

(4) साम्यवादी इतिहास की व्याख्या आर्थिक आधार पर करते हैं। साम्यवाद का मानना है कि मनुष्य के जीवन में जितना मूल्य आर्थिक चीजों का है, उतना नैतिक, धार्मिक तथा अन्य किसी चीज का नहीं। इतिहास में आर्थिक समस्या एक महत्वपूर्ण परिवर्तनकारी तत्व रहा है। साम्यवादियों का मानना है कि मनुष्य जाति की प्रगति व विकास विचारों द्वारा न होकर आर्थिक परिवर्तनों द्वारा होता है। इतिहासकार इतिहास को केवल राजा-महाराजाओं तथा योद्धाओं की क्रीड़ाओं की विवेचना मात्र समझते हैं। वे जब कभी किसी क्रांति व युद्ध का वर्णन करते हैं तो उसके आर्थिक पहलू को भूल जाते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि सामाजिक परिवर्तन उत्पादन के साधनों के परिवर्तन के साथ चलते हैं। क्रांति, युद्ध और राजा-महाराजाओं के वर्णन करते समय आर्थिक पहलू का भी वर्णन होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता है। इसलिए

साम्यवादी इतिहास की व्याख्या में आर्थिक पहलू की भी विवेचना करने में विश्वास करते हैं।

(5) साम्यवादी वर्ग-संघर्ष में यकीन करते हैं। साम्यवादी दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत वर्ग-संघर्ष है। साम्यवादी दो प्रमुख वर्ग मानते हैं। एक पूँजीपतियों का और दूसरा सर्वहारा यानी मजदूरों का इन्हीं दोनों वर्गों में संघर्ष की बात की जाती है। क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में धन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केंद्रित होता है। वे अपनी इस व्यक्तिगत पूँजी का प्रयोग सार्वजनिक लाभ के लिए न करके मजदूरों के शोषण के लिए करते हैं। साम्यवादियों के अनुसार वर्ग-संघर्ष के जरिये साम्यवादी समाज का निर्माण किया जा सकता है। ये वर्ग-संघर्ष आर्थिक समानता को स्थापित करने के लिए जरूरी माना जाता है।

(6) साम्यवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली में विश्वास करते हैं। साम्यवादियों का मानना है कि समाज का विकास इस प्रणाली के अंतर्विरोध का परिणाम ही है। इस प्रणाली के अनुसार समाज का विकास सीधे न होकर टेढ़े-मेढ़े रूप में हुआ है। इस प्रणाली के मुख्यतः तीन अंग बताएँ गए हैं – वाद, 'प्रतिवाद' एवं संवाद। इसमें 'वाद' को प्रारंभिक साम्यवाद 'प्रतिवाद' को औद्योगिक क्रांति के बाद यांत्रिक काल और 'संवाद' को साम्यवाद का काल माना गया है। अतः साम्यवादी लोग इस प्रणाली का प्रयोग समाज के प्रत्येक पहलू की व्याख्या करने के लिए करते हैं।

(7) साम्यवादी विचारक अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। अतिरिक्त मूल्य है क्या? अतिरिक्त मूल्य वह मूल्य है जिसका फल मजदूरों व

मेहनतकशों को नहीं मिलकर, मालिकों या पूँजीपतियों के जेब में सीधा चला जाता हैं। इस पद्धति को साम्यवादी उलट देना चाहते हैं। एक उदाहरण से समझा जा सकता है— किसी कंपनी का मालिक एक फोन को बनाने में 1500 रुपए खर्च करता है, जब वही मोबाइल बाजार में आता है तो वह 2500 रुपए में बिकता है, जबकि मालिक को कुल 1500 रुपए खर्च करने पड़े थे। इस प्रकार मालिक को $2500-1500=1000$ रुपए का लाभ हुआ। 1000 रुपए के इस लाभ में से मालिक, मजदूरों को नहीं देता है। इस 1000 रुपए के अतिरिक्त मूल्य को मालिक स्वयं ही अपने पास रख लेता है। इस पूँजीवादी व्यवस्था को नष्ट कर देना चाहते हैं साम्यवादी। अतिरिक्त मूल्य में से मजदूरों को भी हिस्सेदारी चाहते हैं।

(8) साम्यवादी सर्वहारा का अधिनायकत्व चाहते हैं। सर्वहारा के अधिनायकत्व के लिए मजदूरों (सर्वहारा) द्वारा संगठित पूँजीपतियों के खिलाफ हिंसा क्रांति भी की जा सकती है। बिना इस तरह की क्रांति के पूँजीवादी व्यवस्था समाप्त नहीं की जा सकती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था को भी साम्यवादी पूँजीवाद के समर्थक समर्थक मानते हैं। लेनिन ने कहा है कि पूँजीवादी लोकतंत्र असत्य तथा शरारतपूर्ण है। यह धनिकों के लिए स्वर्ग तथा गरीबों के लिए इंद्रजाल हैं।

(9) साम्यवादी राज्यहीन सत्ता में विश्वास करते हैं। साम्यवादी राजकीय सत्ता में विश्वास नहीं करते। क्योंकि इनके अनुसार राज्य शोषण का एक यंत्र है। जहाँ स्वतंत्रता है, वहाँ पर राज्य नहीं होता और जहाँ पर राज्य होता है वहाँ

स्वतंत्रता नहीं होती। राज्य हमेशा शासक वर्ग के हाथों मजदूरों को कुचलने का एक यंत्र हैं। अतः साम्यवादी राज्यविहीन सत्ता में विश्वास करते हैं।

(10) साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद में विश्वास करते हैं। साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय विश्व के शोषित वर्ग को पूँजीवादी वर्ग के शोषण से बचाने के लिए एक विश्वव्यापी आंदोलन हैं। साम्यवादियों का मानने है कि मजदूरों का कोई राष्ट्र या घर नहीं होता। विश्व के मजदूरों के हित एक समान है। इसलिए दुनिया के मजदूरों को एक हो जाना चाहिए। अगर दुनिया के मजदूर एक होकर क्रांति करेंगे तो मार्क्स के अनुसार शासक वर्ग हिलने लगेगा। इस क्रांति में तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ भी नहीं है केवल अपनी बेड़ियाँ है और प्राप्त करने के लिए तुम्हारे पास एक विशाल संसार है। अतः मार्क्स ने नारा दिया— "दुनिया के मजदूरों एक हो।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन (Modern Indian Political thought)

समुदाय (Community)

‘समुदाय’ शब्द अंग्रेजी भाषा के ‘कम्यूनिटी’ का हिंदी अनुवाद है जिसकी उत्पत्ति लैटिन शब्द ‘MUNUS-CUM’ या ‘MUNIS-COM’ से हुई है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – ‘एक दूसरे को देना’। यह शब्द समुदाय और सामुदायिक जीवन के विचार और अवधारणा को अभिव्यक्त करता है। समुदाय मनुष्यों का समूह है जो सारभूत मौलिक तत्वों को आपस में बांटने से बनता है। इसी कारण लोगों में ‘समूह की भावना’ उत्पन्न होती है। समुदाय के

लोगों द्वारा साझा किए जाने वाले तत्वों में शासित प्रदेश/भौगोलिक स्थान, एकजुटता, भावनात्मक बंधन, किसी खास के प्रति सद्भावना, इत्यादि हो सकते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक क्षेत्रीय या भाषायी एकरूपता के आधार पर भी विस्तृत समुदाय हो सकते हैं। समुदाय से पहचान और अस्मिता की भावना विकसित होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो 'समुदाय' का अर्थ ही है 'एक साथ सेवा करना'। समुदाय व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें उनका सामान्य जीवन व्यतीत होता है। समुदाय निर्माण के लिए निश्चित भू-भाग तथा इसमें रहने वाले व्यक्तियों में सामुदायिक भावना होना अनिवार्य है।

अलग-अलग विद्वानों ने समुदाय को अपने-अपने अनुसार परिभाषित किया है। यहाँ कुछ विद्वानों द्वारा वर्णित परिभाषा के माध्यम से समुदाय की अवधारणा को समझा जा सकता है –

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार – “जहाँ कहीं एक छोटे या बड़े समूह के सदस्य एक साथ रहते हुए उद्देश्य विशेष में भाग न लेकर सामान्य जीवन की मौलिक दशाओं में भाग लेते हैं, उस समूह को हम समुदाय कहते हैं।”

बोगार्ड्स के अनुसार – “समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों तक हम की भावना होती है तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में निवास करता है।”

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार – “किसी सीमित क्षेत्र के भीतर रहने वाले सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।”

जी.डी.एच. कोल के अनुसार – “समुदाय से अभिप्राय सामाजिक जीवन के एक जटिल स्वरूप से है, ऐसे स्वरूप से जिसमें अनेक मानव प्राणी सम्मिलित हैं जो सामाजिक संबंधों की परिस्थितियों के अंतर्गत रहते हैं, जो सामान्य परिवर्तनशील रीतियों, प्रथाओं एवं प्रचलनों द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं तथा कुछ सीमा तक सामाजिक उद्देश्यों एवं हितों के प्रति जागरूक हैं।”

ऊपर दी गई विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समुदाय व्यक्तियों का एक विशिष्ट समूह है जो निश्चित भौगोलिक सीमाओं में निवास करता है। इसके सदस्य सामुदायिक भावना द्वारा परस्पर संगठित रहते हैं। समुदाय में व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य की अपेक्षा अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयास करते रहते हैं। हालाँकि जी.डी.एस.कोल जैसे विद्वान समुदाय को एक विशेष क्षेत्र के व्यक्तियों के सामाजिक जीवन निर्वाहों, उनकी समान प्रवृत्तियों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों एवं प्रचलनों से जोड़ते हैं।

मैकाइवर एवं पेज समुदाय की अवधारणा को वर्णित करते हुए उसमें दो तत्वों ‘स्थानीय क्षेत्र एवं सामुदायिक भावना की अनिवार्यता पर ज़ोर देते हैं –

(१) स्थानीय क्षेत्र – समुदाय के लिए अत्यंत आवश्यक तत्त्व है – निवास स्थान या स्थानीय क्षेत्र (Locality) का होना। इसकी अनुपस्थिति में समुदाय का जन्म लेना नामुमकिन है। क्षेत्र में निश्चितता होने के कारण ही वहां रहने सदस्यों के मध्य घनिष्ठता, सहनशीलता तथा सामंजस्यता की भावना जागृत होती है।

(२) सामुदायिक भावना – सामुदायिक भावना की अनुपस्थिति में समुदाय की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सामुदायिक भावना को “हम की भावना” भी कहा जाता है। इस भावना का जन्म होने के कारण एक निश्चित क्षेत्र, सदस्यों के आर्य करने का सामान्य ढंग तथा प्रत्येक सदस्य का एक-दूसरे के सुख व दुःख से परिचित हो जाना है। दूसरे की खुशी में उनकी खुशी तथा दूसरे का दुःख उनके स्वयं का दुःख बन जाता है। वह ये अनुभव करने लगते हैं कि ‘हम सब एक हैं’। वस्तुतः यह एक ऐसी भावना है जो समुदाय से दूर हो जाने के पश्चात भी व्यक्ति के भीतर विद्यमान रहती है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् स्पष्ट है कि समुदाय एक सामान्य, निश्चित और सीमांकित भू-भाग में रहने वाले परिवारों के संग्रह को कहते हैं जो एक साथ रहने के कारण सामाजिक सम्बन्ध विकसित कर लेते हैं।

धर्मनिरपेक्षता (Secularism)

राजनीतिक क्षेत्र में आधुनिक प्रगतिशील विश्व के सबसे अधिक लोकप्रिय शब्द हैं – ‘लोकतंत्र’, ‘समाजवाद’ और ‘धर्मनिरपेक्षता’। विश्व के कुछ साम्यवादी तथा कट्टर धर्मावलम्बी राज्यों को छोड़कर प्रायः सभी राज्य इन आदर्शों को क्रियान्वित करने के लिए अपने आपको संकल्पबद्ध बताते हैं। धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत न केवल लोकप्रिय है वरन् एक युगीन आवश्यकता बन गया है और लोकतंत्र तथा समाजवाद के आदर्श को भी विशुद्ध रूप में उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि धर्मनिरपेक्षता को न अपना लिया जाए।

धर्म निरपेक्षता की धारणा का उदय धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर ही हुआ है। अतः धर्म-निरपेक्षता के संदर्भ में 'धर्म-निरपेक्ष' का आशय भी समझना आवश्यक है। 'धर्म-निरपेक्ष' के लिए अंग्रेजी में 'सेक्यूलर' शब्द का प्रयोग होता है जिसका उदय लैटिन भाषा से हुआ है। लैटिन भाषा में 'सेक्यूलर' या 'सिक्यूलर' का अर्थ 'सांसारिक' है। इस दृष्टि से धर्म-निरपेक्ष का अर्थ है, वह प्रवृत्ति जो राजनीतिक गतिविधियों को केवल लौकिक क्षेत्र तक सीमित रखने की समर्थक है और जिसका धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। नकारात्मक दृष्टि से देखा जाए तो इसका अर्थ होगा – धर्म एवं धार्मिक परम्पराओं व गतिविधियों से अलगाव। जबकि सकारात्मक दृष्टिकोण से इसका अर्थ है – सभी विषयों के सम्बन्ध में विचार की एक लौकिक दृष्टि। जॉर्ज ऑसलर के अनुसार – “धर्म निरपेक्ष का अर्थ है, इस विश्व या वर्तमान जीवन से सम्बंधित दृष्टिकोण, जो धार्मिक या द्वैतवादी विचारों से बंधा हुआ न हो।”

धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण से ही 'धर्म-निरपेक्षता' की धारणा का उदय हुआ है। हॉतिआक के शब्दों में – “धर्म-निरपेक्षता वह सिद्धांत है जो जीवन के तत्काल कर्तव्य के रूप में, संभावित उच्चतम बिंदु तक मानव के नैतिक और बौद्धिक स्वभाव के विकास की खोज करता है।”

आधुनिक दृष्टिकोण के तहत धर्म-निरपेक्षता की व्याख्या करते हुए डॉ. सक्सेना लिखते हैं – “धर्मनिरपेक्षता वह नीति या सिद्धांत है जो धार्मिक नैतिकता और सहिष्णुता पर आधारित होता है और जो अपने सभी नागरिकों

को उनके वर्ण, जाति, लिंग, धर्म, विश्वास एवं अन्य भेदों पर विचार किए बिना, उन्हें उचित सीमा तक धर्म और विश्वास की स्वतंत्रता प्रदान करता है।”

वर्तमान समय में धर्मनिरपेक्षता के तीन विभिन्न स्वरूप हैं – धर्मनिरपेक्षता का प्रथम स्वरूप जो विद्यमान है उसमें धर्म का कोई अस्तित्व नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इस मॉडल में धर्मनिरपेक्षता का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके समर्थक पूर्णतः विशुद्ध भौतिकवादी विचारधारा में विश्वास करते हैं। इसके अनुयायी सामान्यतया धर्म के अस्तित्व को नकारते हुए आधुनिक विज्ञान और मानवीय सेवा में लगी हुई प्राकृतिक शक्तियों में ही विश्वास करते हैं। इसके समर्थकों का विश्वास है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य के द्वारा बिना किसी भेदभाव के अपनी समस्त जनता के हित में कार्य किया जाना चाहिए।

धर्मनिरपेक्षता का दूसरा स्वरूप या मॉडल धर्म के प्रति भौतिकवादी व्यवहार पर बल देता है और अधार्मिक नैतिकता द्वारा निर्देशित होता है। यह ईश्वर में पूर्ण विश्वास करता है और अपने नागरिकों को धर्म विरोधी प्रचार की स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता। इस प्रकार के धर्म-निरपेक्ष राज्य में, सरकारी शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का निषेध होता है किन्तु निजी संस्थाओं, संगठनों के द्वारा धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया जा सकता है।

धर्मनिरपेक्षता का तीसरा स्वरूप आध्यात्मिकता पर आधारित है और यह केवल इस अर्थ में धर्म-निरपेक्ष है कि इसके द्वारा किसी विशेष धर्म को राज्याश्रय प्रदान नहीं किया जाता। यह धर्म के प्रति उदासीन नहीं होता। यह सभी धर्मों की आधारभूत एकता और सभी धर्मों के प्रति सम्मान की भावना

रखता है। धर्म-निरपेक्षता के इसी रूप की व्याख्या करते हुए महात्मा गांधी लिखते हैं – “मैं सदैव नैतिक धर्म की बात करता हूँ क्योंकि सभी धर्मों के नैतिक नियम सामान्य हैं। सभी धर्म कुछ नैतिक नियमों पर आधारित होते हैं।” धर्म-निरपेक्षता का यह तीसरा स्वरूप नैतिक और आचार सम्बन्धी नियमों पर आधारित है।

इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का प्रथम स्वरूप विज्ञान की ओर उन्मुख व धर्म से विमुख। दूसरा स्वरूप. विज्ञान और धर्म दोनों की ओर समान रूप से उन्मुख तथा तीसरा आध्यात्मिकता और नैतिकता पर आधारित है। भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता को इसके तीसरे स्वरूप के तहत ही अपनाया गया है क्योंकि इसका तीसरा स्वरूप किसी एक धर्म की पैरवी नहीं करता वरन सभी धर्मों के सामान्य सिद्धांतों अथवा मानव धर्म की पैरवी के पक्ष में है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्ण के अनुसार – “यदि हम अपने आपको विश्व की वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप बनाना चाहते हैं तो हमें धर्म और विज्ञान में समन्वय स्थापित करना होगा। इस प्रकार हमारे द्वारा सर्वाधिक श्रेष्ठ जनकल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा सकेगी जो वर्ण, जाति, धर्म या अन्य किसी भी भेद पर विचार किए बिना सभी के लिए समान रूप से लाभकारी होगा। ऐसे राज्य उन सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान करते हैं, जो भी इसे चाहें।”

समाजवाद (Socialism)

18 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में व्यक्तिवादी विचारधारा अत्यंत लोकप्रिय थी परन्तु इस विचारधारा को अपनाने का सामाजिक, आर्थिक एवं औद्योगिक जीवन

पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ। आधुनिक समय में समाजवाद बहुत अधिक लोकप्रिय है तथा प्रत्येक देश द्वारा किसी न किसी रूप में इसे ग्रहण करने का प्रयास किया जा रहा है। यही कारण है कि उसका रूप बहुत अस्पष्ट हो गया है। सी.ई.एम. जॉड के अनुसार- “समाजवाद एक ऐसे टोपी का नाम है जिसका आकार बिगड़ गया है क्योंकि हर कोई उसे धारण करने का प्रयत्न करता है।”

समाजवाद शब्द अंग्रेजी के ‘सोशलिज्म’ से लिया गया है, सोशलिज्म की उत्पत्ति ‘सोशियस’ (Socious) से हुई है जिसका अर्थ है ‘समाज’। इस प्रकार समाजवाद का सम्बन्ध समाज और उसके सुधार से है। वास्तव में समाजवाद व्यक्तिवाद के विरुद्ध समाज को केन्द्रीय मानने वाली विचारधारा है। समाजवाद का उद्देश्य समानता की स्थापना करना है। समाजवाद के अनुसार समानता की स्थापना के लिए स्वतंत्र प्रतियोगिता का अंत किया जाना चाहिए , उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होना चाहिए तथा उत्पादन व्यवस्था का संचालन भी वर्गों के सामूहिक हितों को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए। यद्यपि समाजवाद की परिभाषा देना कठिन है फिर भी विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार समाजवाद को परिभाषित किया है –

मैकडोनाल्ड के अनुसार – “समाजवाद, समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों को संगठित एवं उन पर मानवीय शक्ति का नियंत्रण स्थापित करना चाहता है”।

बर्नार्ड शॉ समाजवाद को परिभाषित करते हुए कहते हैं – “समाजवाद का अभिप्राय संपत्ति के सभी आधारभूत साधनों पर नियंत्रण से है। यह नियंत्रण

समाजवाद के किसी एक वर्ग द्वारा न होकर स्वयं समाज के द्वारा होगा और धीरे-धीरे व्यवस्थित ढंग से स्थापित किया जायेगा।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार – “समाजवादी व्यवस्था में एक ऐसा वर्गहीन समाज होगा जिसमें सभी श्रमजीवी होंगे। इस समाज में सारी संपत्ति सच्चे अर्थों में सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय होगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उनकी प्रगति योग्यतानुकूल होगी तथा सभी लोग सभी के हित के लिए जीवित रहेंगे”।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजवाद का उद्देश्य राज्य के समस्त नागरिकों का कल्याण है। जिस प्रकार व्यक्तिवाद स्वतंत्रता पर आधारित है उसी प्रकार समाजवाद समानता पर केन्द्रित है।

समाजवाद की विशेषताएं -समाजवाद पूंजीवादी का विरोधी है। समाजवाद के अनुसार समाज में असमानता तथा अन्याय का कारण पूंजीवाद की विद्यमानता है। पूंजीवाद में उत्पादन का समान वितरण न होने के कारण संपत्ति पर पूंजीवाद का अधिकार होता है। समाजवादियों का ऐसा मानना है कि पूंजीपतियों एवं श्रमिकों में संघर्ष अनिवार्य है। अतः समाजवाद उत्पादन व वितरण के साधनों को पूंजीपति हाथों से लेकर समाज को सौंपना चाहता है।

समाजवाद, व्यक्तिवाद के विपरीत वह विचार है जो व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व देता है। इस विचारधारा की मान्यता है कि समाज के माध्यम से ही व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास हो सकता है। समाजवाद प्रतियोगिता का विरोध करता है और सहयोग में वृद्धि करने पर बल देता है। राष्ट्रीय तथा

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सहयोग करके अनावश्यक प्रतिस्पर्धा को समाप्त किया जा सकता है। समाजवादी विचारक राज्य के लोकतंत्रीय स्वरूप में विश्वास रखते हैं। ये मताधिकार का विस्तार करके संसद को उसकी व्यवस्था चलाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं। इस व्यवस्था से व्यक्तियों को राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति होती है।

जैसा बार-बार उद्धृत किया गया है कि समाजवाद की विचारधारा समानता पर बल देती है लेकिन समाजवाद के आलोचक इस बात से इक्तिफाक नहीं रखते, उनका मानना है कि समाज में पूर्ण समानता स्थापित करना असंभव है क्योंकि प्राकृतिक रूप से सभी मनुष्य समान नहीं होते। कुछ अत्यधिक परिश्रमी, कुछ बुद्धिमान तो कुछ आलसी और मूर्ख होते हैं। इन सबको एक समझना प्राकृतिक सिद्धांत की अवेहलना करना है। इसके अलावा उनका यह भी तर्क है कि यदि उत्पादन के साधनों पर पूर्ण समाज का बराबरी का नियंत्रण हो तो व्यक्ति की कार्य प्रेरणा समाप्त हो जायेगी और कार्य क्षमता भी धीरे-धीरे घाट जायेगी। व्यक्ति को अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का मौका नहीं मिलेगा तो वस्तुओं की उत्पादन मात्रा भी घटती चली जायेगी। इन्हीं कारणों के चलते समाजवाद को कई आलोचकों ने अव्यावहारिक सिद्धांत कहकर नकार दिया है।

लोकतंत्र के प्रतिरूप (Models Of Democracy)

प्राचीन युग से लेकर वर्तमान समय तक लोकतंत्र एक राजनीतिक व्यवस्था होने के साथ-साथ मनुष्य जीवन के हर आयाम से जुड़ी है। लोकतंत्र सिर्फ शासन करने का स्वरूप नहीं है बल्कि एक आदर्श समाज और जीवन कैसा

होना चाहिए, उसका भी एक तरीका है। विभिन्न शासन तंत्रों के विफल होने के बाद विश्व आज लोकतान्त्रिक व्यवस्था को अपनाने के लिए लगातार प्रयासरत है। लोकतंत्र की परिभाषा के अनुसार यह "जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन है"। लेकिन अलग-अलग देशकाल और परिस्थितियों में अलग-अलग धारणाओं के प्रयोग से इसकी अवधारणा कुछ जटिल हो गयी है।

लोकतंत्र का परंपरागत उदारवादी सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि व्यक्ति की सहमती पर आधारित सरकार का निर्माण होता है। इस मान्यता के अनुसार लोकतंत्र ऐसी प्रक्रिया है जिसमें सार्वजनिक निर्णयों के लिए जनसाधारण की सहमति प्राप्त करने पर बल दिया जाता है। मोटे तौर पर लोकतंत्र के दो प्रकार स्पष्ट रूप से दीखते हैं - प्रत्यक्ष लोकतंत्र और प्रतिनिधि सत्तात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र।

प्रत्यक्ष लोकतंत्र : एक प्रत्यक्ष लोकतंत्र वह लोकतंत्र है जहां लोगों की सीधी भागीदारी होती है। वह सार्वजनिक निर्णयों में अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य करते हैं। सारे नागरिक सभी महत्वपूर्ण नीतिगत फैसलों पर मतदान करते हैं। इसके लिए जनमत संग्रह और लोकप्रिय इच्छा के सशक्तिकरण और ठोसकरण के लिए राजनीति में नागरिकों की व्यापक भागीदारी की आवश्यकता है। एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें कार्यकर्ता निर्णय लेते हैं, कार्यस्थल में जिम्मेदारी और अधिकार साझा करते हैं। सीमित या छोटी जनसंख्या के साथ इस तरह के लोकतंत्र सफल रहते हैं। उदाहरण- स्विट्ज़रलैंड।

प्रतिनिधि सत्तात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र: अप्रत्यक्ष लोकतंत्र को प्रतिनिधि लोकतंत्र भी कहते हैं। जब प्रभुसत्तावान जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार की प्रभुसत्ता का प्रयोग ना करके अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से कार्य करती है तो उसे अप्रत्यक्ष लोकतंत्र कहते हैं। इस शासन प्रणाली में जनता संविधान द्वारा निर्धारित निश्चित अवधि के लिए अपने प्रतिनिधियों का चयन करती है, जिससे कानून निर्माण करने वाली व्यवस्थापिका का गठन होता है।

अभिजनवाद (Elitism)

अभिजन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 17वीं शताब्दी में श्रेष्ठ वस्तुओं का वर्णन करने के लिए किया गया। जैसे-जैसे सामाजिक व्यवस्थाएं अधिक विकसित और जटिल होती गयीं, तो बाद में इस शब्द का प्रयोग उच्च सामुदायिक समुदायों जैसे शक्तिशाली सैनिक इकाइयां और उच्च श्रेणी के सामंत वर्ग के लिए किया जाने लगा। इस शब्द का प्रयोग सबसे अधिक 1930 के बाद दिखाई पड़ता है। विल्फ्रेड परेटो ने इस समाजशास्त्रीय सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। परेटो के बाद मोस्का, मेरी कोलविन्स्का, एच. डी. लासवेल, टी. बी. बोटोमोर, कार्ल मैनहीम और शुम्पीटर आदि के द्वारा अभिजन की धारणा पर विचार व्यक्त किए गए।

अभिजन की धारणा विभिन्न व्यक्तियों की क्षमताओं में और असमानता पर आधारित है और परेटो के अनुसार “वह व्यक्ति जो अपने कार्य क्षेत्र के अंतर्गत सबसे अधिक उच्च श्रेणी पर हैं वही अभिजन हैं।” परेटो प्राकृतिक असमानताओं के आधार पर मानव समाज को दो वर्गों में बांटता है, (1)

अभिजन (2) अभिजनेतर। अभिजन को उसने पुनः दो भागों में विभाजित किया है:

(अ) शासक अभिजन और (ब) अशासक अभिजन। यह विभाजन उसने बुद्धि, संगीत आदि विषयों के प्रति अभिरुचि, चरित्र, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव की शक्ति आदि विषयों पर किया है। परेटो कट्टर अभिजनवादी था और वह अभिजन वर्ग का अस्तित्व सामाजिक संतुलन को बनाए रखने के लिए आवश्यक मानता था। परेटो के समस्त विचार का केंद्र बिंदु 'शासक अभिजन' ही है। वही मोस्का की 'शासन अभिजन' की धारणा परेटो की तुलना में व्यापक लेकिन कुछ अस्पष्ट भी है। मोस्का ने अभिजन तथा अभिजनेतर जनता के मध्य सुव्यवस्थित संबंध स्थापित करते हुए एक नवीन राजनीतिक धारणा के प्रतिपादन का प्रयत्न किया। उसने समाज के दो वर्ग बतलाए 'शासक वर्ग' और 'शासित वर्ग'। शासक वर्ग संख्या में कम, अपेक्षाकृत श्रेष्ठ, संगठित तथा अपने गुणों के कारण समाज द्वारा सम्मानित होता है। वह स्वयं अनेक सामाजिक समूहों से निर्मित होता है। मोस्का ने अपने शासक वर्ग को 'शासक अभिजन' या 'राजनीतिक वर्ग' कहा है। परेटो और मोस्का की धारणा में एक अंतर अभिजन और प्रजातंत्र के पारस्परिक संबंध के विषय में है। परेटो का विचार है कि प्रत्येक समाज के शासक और शासित दो अलग वर्ग होते हैं और वह इस बात को अस्वीकार करता है कि इस दृष्टि से प्रजातंत्रीय राज-व्यवस्था, अन्य राज-व्यवस्थाओं से भिन्न होती है। जबकि मोस्का का विचार है कि इस दृष्टि से प्रजातंत्रीय राज-व्यवस्था अन्य

व्यवस्थाओं से भिन्न होती है क्योंकि प्रजातंत्र में शासक अल्पसंख्यक व शेष समाज के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है।

अभिजन के संबंध में जो अध्ययन किए गए हैं उनमें एच. डी. लासवेल का अध्ययन महत्वपूर्ण माना जाता है। लासवेल लिखता है कि “एक राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत शक्ति को धारण करने वाला वर्ग ही राजनीतिक अभिजन होता है। शक्ति धारण करने वाले वर्ग में नेतृत्व करने वाला वर्ग तथा वह सामाजिक समुदाय आते हैं जिसमें से यह वर्ग आता है और जिसके प्रति एक निर्दिष्ट समय में यह उत्तरदायी होता है।” अभिजन की इस अवधारणा को कुछ और विस्तार से टी.बी. बोटोमोर के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। बोटोमोर के अनुसार अभिजन या शासक वर्ग की अवधारणा ऐतिहासिक परिस्थितियों में सामंतवाद के अंत तथा आधुनिक पूंजीवाद की प्रारंभिक देन है। उस समय से ही वर्ग समाज की अधिकांश संपत्ति तथा राष्ट्रीय आय के बड़े भाग का प्राप्तकर्ता एवं स्वामी बन बैठा है। इन आर्थिक लाभों को बनाए रखने के लिए वह एक विशिष्ट संस्कृति तथा जीवन दर्शन के निर्माण में भी सफल हो गया है। राजनीतिक अभिजन प्रबल राजनीतिक प्रभाव युक्त राजनेताओं की सामूहिकता का नाम है। यह किसी समुदाय के लघु अल्पसंख्यक होते हैं जो महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों, प्रभावशाली सामाजिक वर्गों या प्रजातियों की सदस्यता, आर्थिक व सामाजिक समूह में अपनी सामान्य शैक्षणिक पृष्ठभूमि आदि के आधार पर राजनीतिक क्षेत्रों में प्रबल प्रभाव रखते हैं। इनके पास बड़ी मात्रा में राजनीतिक साधन होते हैं जिनका प्रयोग वे वांछित राजनीतिक परिणामों को प्राप्त करने के लिए करते हैं। यह

राजनीतिक साधन, नेतृत्व, कौशल, राजनीतिक पद और विशेष राजनीतिक सूचनाओं की प्राप्ति आदि के रूप में हो सकते हैं। सत्तारूढ़ राजनेताओं के पास औचित्य पूर्ण सत्ता, दंड एवं पुरस्कार, सम्मान, दल, मित्र, शास्तियाँ आदि अनेक साधन होते हैं। राजनीतिक सामग्री जैसे धन और कर्मचारी गण आदि के माध्यम से वे स्वपक्ष में बहुमत को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार अभिजन पर विचार करते हुए ज्यादातर विचारक अभीजनों को एक ऐसा संगठित अल्पसंख्यक शासक वर्ग मानते हैं जो असंगठित प्रजा वर्ग पर अपनी प्रभुता शक्ति का प्रयोग करता है।

गांधी चिंतन (Reading Gandhi)

राजनीतिक (Political)

समाज-विज्ञान में 'राजनीतिक' या 'पॉलिटिकल' महज़ एक गुण अथवा विशेषण का नाम नहीं है जिसका काम किसी अन्य पद के साथ मिल कर उसके राजनीतिक तत्त्व के बारे में बताना भर हो। इसे पाँच विशिष्ट अर्थों के संदर्भ में समझा जाता है : किसी समुदाय द्वारा अपने उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए निर्णय लेने को सामूहिक प्रक्रिया, एक समुदाय द्वारा दूसरे पर अपनी सत्ता आरोपित करने की विधियाँ, समुदाय के कल्याण के लिए राज्य की सत्ता का इस्तेमाल, राज्य की सत्ता की मदद से एक समूह द्वारा दूसरे पर अपनी सत्ता थोपना और उन मूल्यों की संकल्पना करना जिनके आधार पर कोई समूह अपना जीवन और आचरण चलाना चाहता है। इन पाँचों में मानकीय पहलू भी हैं और अनुभवपरक आयाम भी।

इस पद का इतिहास प्राचीन यूनान से शुरू होता है। यूनानी भाषा में 'पोलिस' का शाब्दिक अर्थ है नगर, पर उसका व्यापक अर्थ एक ऐसी जगह से है जो एक मुश्तरका दुनिया या एक समुदाय से ताल्लुक रखती हो। इस लिहाज़ से पॉलिटिकल का मतलब हुआ उस समुदाय द्वारा या उसमें किया गया कुछ भी, और उसके बारे में या उसमें लिए गये निर्णय और उन्हें लेने की प्रक्रिया। यहाँ निर्णय प्रक्रिया का तात्पर्य फ़ैसले करने की एक खास विधि से है: अर्थात् हिंसा और बल प्रयोग के बिना शब्दों के इस्तेमाल और समझाने-बुझाने के ज़रिये किये गये निर्णय। राजनीतिक की प्रकृति शब्दों से बनती है, ताक़त से नहीं। इसके दूसरे मतलब का ताल्लुक इससे है कि लिए जाने वाले निर्णय किस बारे में हैं।

चूँकि वे तमाम फ़ैसले समुदाय के बुनियादी विषयों के बारे में किये जाते थे और उन्हें करने की प्रक्रिया में माना जाता था कि पूरा समुदाय भागीदारी कर रहा है, इसलिए निर्णय प्रक्रिया समुदाय की सामूहिक ताक़त पर निर्भर करती थी। समुदाय की इस सामूहिक सत्ता का अध्ययन ही राजनीतिशास्त्र, राजनीति विज्ञान या राजनीतिक दर्शन था। लेकिन, जैसा कि हमें पता है कि यूनान के उस निर्णयकारी समुदाय की सामूहिकता में दासों, स्त्रियों और विजातीय तत्वों की भागीदारी नहीं थी। सामूहिकता की वह परिभाषा उस समय के लोगों को स्वाभाविक लगती थी, लेकिन आज हम जानते हैं कि व्यावहारिक रूप में वह कुछ लोगों की कुछ दूसरे लोगों पर सत्ता के अलावा कुछ नहीं थी।

आधुनिक युग में इस सत्ता का तात्पर्य काफी हद तक स्पष्ट हो चुका है। आज सत्ता का अर्थ है कुछ लोगों द्वारा कुछ दूसरों के हितों के बारे में फैसले लेने का अधिकार ताकि वे उन्हें हाशिये पर डाल सकें, उनका बहिर्वेशन कर सकें, और इस प्रकार उन्हें अपने और अपने भविष्य के बारे में किसी भी तरह का फैसला करने के अधिकार से वंचित कर सकें। इस तरह प्राचीन यूनान में राजनीतिक और राजनीति विज्ञान सत्ता की जिस अवधारणा का अध्ययन करता था उसका मानकीय अर्थ सामुदायिक और सामूहिक सत्ता से था। आधुनिक युग में राजनीतिक विज्ञान द्वारा सत्ता की उन प्रक्रियाओं, तौर-तरीकों और संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है जिनके ज़रिये लोगों का एक समूह दूसरे समूह को निर्णय प्रक्रिया में भाग लेने से वंचित करता है।

आधुनिकता ने राजनीतिक और राजनीति को एक अन्य अर्थ भी दिया है। इसका संबंध राज्य की संस्था की गतिविधियों से है जिसके तहत समाज को प्रभावित करने वाले सभी निर्णय उससे अलग हो कर एक संस्थागत ढाँचे के तहत किये जाते हैं। जैसे ही राजनीति के केंद्रीय सरोकारों में राज्य को प्रमुखता मिलती है, वैसे ही राजनीतिक में गुँथी हुई सामाजिक की अवधारणा उससे छूट कर अलग हो जाती है। सामाजिक के राजनीतिक से अलग होते ही, राजनीति विज्ञान और राजनीतिक सिद्धांत की अधिकतर ऊर्जा राज्य की विवेचना में खपने लगी है। उसकी विषय-वस्तुएँ सरकार, न्यायपालिका, अधिकारीतंत्र, सेना और पुलिस जैसे राज्य के अंगों के आस-पास गोलबंद होने लगती हैं। दूसरी तरफ समाज-विज्ञान और सामाजिक सिद्धांत का काम उन संरचनाओं और संस्थाओं का अध्ययन करना हो जाता है जो राज्य के

दायरे के बाहर रहती हैं। इस विश्लेषण के आधार पर राजनीतिक और राजनीति के चार अर्थ उभरते हैं : पहला, समुदाय के उत्तम जीवन के बारे में निर्णय लेने के लिए सामूहिक सत्ता की अभिव्यक्ति, जिसमें राजनीतिक का तात्पर्य सत्ता से भी है और नैतिक मूल्यों से भी। दूसरा, कुछ समूहों द्वारा अन्य समूहों को अधीनस्थ बनाने के लिए सत्ता का इस्तेमाल जिसके पीछे मुख्यतः संकोर्ण कारण ही होते हैं और जिनके तहत सत्ता और स्वार्थ आपस में मिल जाते हैं। तीसरा, सार्वजनिक कल्याण अथवा मूल्यों को हासिल करने के लिए राज्य की सत्ता का प्रयोग। चौथा, एक समूह द्वारा दूसरे समूह पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए राज्य की सत्ता का प्रयोग।

सवाल यह है कि राजनीतिक के दायरे में ये चारों अर्थ एक साथ कैसे काम कर सकते हैं ? पहला और तीसरा आखिर दूसरे और चौथे के साथ कैसे रह सकता है? इसी मुक़ाम पर मानकीय और अनुभवपरक के बीच एक तरह का विभाजन नज़र आता है। अधीनस्थ समूह निर्णय प्रक्रिया से बाहर कर दिया जाता है, पर इस वंचना के प्रभाव में वह एक ऐसे जगत की कल्पना और रचना का कार्यक्रम ले सकता है जिसमें हर व्यक्ति साझे हितों और मूल्यों के आधार पर निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी कर सके। इस तरह पहला और तीसरा तात्पर्य मानकीय और नैतिक बन कर वह हासिल करने की कोशिश करता है जो दूसरे और चौथे के तहत बहुत कम या बिल्कुल ही नहीं प्राप्त हो सकता।

इसी जगह हमें राजनीतिक और राजनीति का एक पाँचवाँ मतलब भी मिलता है। जैसे ही हम राजनीति का इस्तेमाल उन मूल्यों के संदर्भ में करना शुरू

करते हैं जिनका संबंध किसी एक नगर या समुदाय के सदस्यों से परे जा कर समग्र मानवता और उसके समान मूल्यों से हो, वैसे ही पोलिस के साथ कॉस्मोपोलिस जुड़ जाता है। इस पाँचवें अर्थ के अंतर्गत ही राजनीति नये मूल्यों और नयी दुनियाओं को कल्पित करने के उद्यम के रूप में उभरती है। ज़ाहिर है कि राजनीति विज्ञान का यह पाँचवाँ अर्थ कमोबेश अमूर्त होगा, और धरती की ठोस हक़ीक़तों से परे भी जाएगा।

निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance)

निष्क्रिय प्रतिरोध आमतौर पर अहिंसक प्रतिरोध के कार्यों को संदर्भित करता है। निष्क्रिय प्रतिरोध करने वाला व्यक्ति हिंसक आक्रामकता के सामने भी हिंसक प्रतिक्रिया से दूर रहने का विकल्प सचेत ढंग से चुनता है। यह शब्द 1920 और 1948 के बीच भारत में स्वतंत्रता संग्राम के दौरान खूब उपयोग में आया। इसका व्यापक रूप से उन समूहों द्वारा उपयोग किया गया है जिनके पास औपचारिक अधिकार या स्थिति नहीं है। कभी-कभी इसे "कमजोर का हथियार" कहा जाता है।

हालाँकि, यह शब्द भ्रामक है, कि इसका तात्पर्य निष्क्रियता से है। वास्तव में, निष्क्रिय प्रतिरोध को एक सामाजिक संघर्ष में एक सक्रिय, लेकिन अहिंसक, संघर्ष के तरीके के रूप में माना जा सकता है। निष्क्रिय प्रतिरोध शब्द के अंतर्गत आने वाली कार्रवाइयों में सविनय अवज्ञा और असहयोग के कई रूप शामिल हैं - जैसे कि धरना, बहिष्कार, नाकाबंदी और प्रतिष्ठानों का व्यवसाय कर से इनकार, और वैकल्पिक प्रकाशन और मीडिया। निष्क्रिय

प्रतिरोध के अधिक सक्रिय रूपों में हड़ताल, वाकआउट, विरोध मार्च, नाटकीय विरोध और भूख हड़ताल शामिल हैं।

निष्क्रिय प्रतिरोध राजनीतिक शक्ति के संबंधपरक दृष्टिकोण में निहित है जो किसी समुदाय या राष्ट्र के शासकों को कम से कम शासित लोगों की स्वीकृति पर निर्भर के रूप में देखता है। इस प्रकार, एक तानाशाह की शक्ति भी कुछ हद तक जनसंख्या के सहयोग पर टिकी हुई है। यह धारणा सोलहवीं शताब्दी में एटियेन डे ला बोएटी (1530-1563) और साथ ही जॉन लॉक (1632-1704) द्वारा व्यक्त की गई थी। यह धारणा कि शासन केवल शासितों की सहमति से ही अपना वैध अधिकार प्राप्त करता है, आधुनिक लोकतंत्र का मूलभूत विचार है।

निष्क्रिय प्रतिरोध के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के अग्रणी समकालीन विद्वानों में से एक हैं जीन शार्प। शार्प का तर्क है कि अहिंसक संघर्ष एक आंदोलन में नेताओं या कार्यकर्ताओं द्वारा शांतिवाद के प्रति नैतिक प्रतिबद्धता को प्रतिबिंबित कर सकता है (मोहनदास गांधी और मार्टिन लूथर किंग जूनियर इसके प्रमुख उदाहरण हैं), लेकिन शांतिवाद एक आवश्यक शर्त नहीं है। निष्क्रिय प्रतिरोध स्पष्ट रूप से संख्यात्मक, व्यावहारिक और राजनीतिक हो सकता है और शांतिवाद के प्रति नैतिक प्रतिबद्धता वाले लोगों द्वारा इसका प्रभावी ढंग से उपयोग किया जा सकता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिल जाते हैं जहां निष्क्रिय प्रतिरोध पर अमल करने वाले लोग शांतिवादी ही नहीं रहे हैं। तर्कसंगत रूप से, निष्क्रिय प्रतिरोध के माध्यम से संचालित सामाजिक शक्ति भी लोकतंत्रीकरण कर रही है, क्योंकि यह समाज

में व्यापक रूप से शक्ति का प्रसार करती है। नैतिक शांतिवाद की तरह, हालांकि, अहिंसक संघर्ष लोकतंत्र के इस्तेमाल पर निर्भर नहीं करता है। इस व्यापक दायरे में देखा जाए तो निष्क्रिय प्रतिरोध का एक लंबा और विविध इतिहास रहा है। निष्क्रिय प्रतिरोध की तकनीक अरिस्टोफेन्स के नाटक लिसिस्ट्राटा (411 ईसा पूर्व) में स्पष्ट होती है, जहां महिलाएं अपने पतियों के साथ यौन संबंध बनाने से तब तक इनकार करती हैं जब तक कि पुरुष युद्ध करना बंद नहीं कर देते। संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वतंत्रता संग्राम (1775-1783) के दौरान, उपनिवेशवादियों ने स्टाम्प करों या सैनिकों की बिलेटिंग के लिए ब्रिटिश मांगों को मानने से इनकार कर दिया। हेनरी डेविड थोरो (1817-1862) ने 1840 के दशक में मैक्सिकन युद्ध के दौरान कर से इनकार करने के अपने कार्य के साथ सविनय अवज्ञा के अपने आह्वान को प्रसिद्ध रूप से व्यक्त किया। प्रत्ययवादियों ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के प्रमुख शहरों में प्रदर्शन किए; कुछ ने भूख हड़ताल में भाग लिया।

बीसवीं सदी के अंत और इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में कई समाजों में निष्क्रिय प्रतिरोध के उदाहरण आसानी से मिल जाते हैं। 1989 में छात्र प्रदर्शनकारियों ने बीजिंग में तियानमेन स्क्वायर पर कब्जा कर लिया। पूर्वी यूरोप में अहिंसक आंदोलनों ने उसी वर्ष कम्युनिस्ट सरकारों को गिरा दिया। 2000 में सर्बिया में एक अहिंसक आंदोलन ने स्लोबोडन मिलोसेविक (1941-2006) की तानाशाही को समाप्त कर दिया। इजरायल-फिलिस्तीनी संघर्ष के दोनों पक्षों के नागरिकों ने समय-समय पर तकनीक का इस्तेमाल

किया है। 2005 में बोलिविया में स्थानीय लोगों ने विरोध और काम रोककर सरकार को गिराने के लिए मजबूर किया।

निष्क्रिय प्रतिरोध की अवधारणाओं का सबसे महत्वपूर्ण विकास मोहनदास गांधी और स्वतंत्रता के लिए भारतीय अभियानों से हुआ। बीसवीं सदी के मोड़ पर दक्षिण अफ्रीका में एक युवा वकील के रूप में, गांधी ने भेदभाव और असमान व्यवहार का विरोध करने के लिए भारतीयों को संगठित किया। ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिक के रूप में अपने अधिकारों का दावा करते हुए, उन्होंने पास ले जाने से इनकार कर दिया और सार्वजनिक कृत्यों का आयोजन किया जहां उन्होंने सरकार द्वारा जारी पासों को जला दिया। इन अनुभवों में से, गांधी ने सत्याग्रह के अपने विचार को विकसित किया, जिसे अक्सर "आत्मा बल" या "सत्य बल" के रूप में अनुवादित किया जाता है।

गांधी के निष्क्रिय प्रतिरोध के उपयोग के प्रमुख सिद्धांतों में से एक अन्यायपूर्ण कानूनों या अधिकार का सार्वजनिक रूप से सामना करने के अवसर खोजना था। प्रदर्शनकारियों, या सत्याग्रहियों ने कानूनों की अवहेलना की, लेकिन एक ऐसी मुद्रा बनाए रखने की मांग की, जो सत्ता के एजेंटों के साथ सम्मान और यहां तक कि करुणा के साथ व्यवहार करे। गांधी ने तर्क दिया कि संघर्ष के साधन मांगे जा रहे लक्ष्यों के साथ नैतिक रूप से संगत होना चाहिए। प्रदर्शनकारी अक्सर गिरफ्तारी और यहां तक कि हिंसा के लिए भी झुके, लेकिन खुद हिंसा का सहारा नहीं लिया। उदाहरण के लिए, 1931 में धरसाना में साल्टवर्क्स के द्वार तक विरोध मार्च में, प्रदर्शनकारी स्वेच्छा से प्रतीक्षारत पुलिस के पास गए, जिन्होंने उन्हें बेरहमी से पीटा।

1950 और 1960 के दशक में नागरिक अधिकार आंदोलन के विस्फोट के रूप में निष्क्रिय प्रतिरोध ने संयुक्त राज्य में व्यापक सार्वजनिक मान्यता प्राप्त की। पूरे आंदोलन के वर्षों में, निष्क्रिय प्रतिरोध की तकनीकों का उपयोग अधिकारों और समानता के बारे में एक नैतिक स्थिति पर जोर देने और आर्थिक और राजनीतिक दबाव लागू करने के लिए किया गया था। मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने अहिंसा की रणनीति तैयार करने के लिए गांधी और उनकी अपनी ईसाई परंपरा का सहारा लिया। गांधी के सत्याग्रहियों की तरह, नागरिक अधिकार कार्यकर्ताओं ने बर्मिंघम, अलबामा, सेल्मा, अलबामा और अन्य जगहों पर शांतिपूर्वक और सार्वजनिक रूप से मार्च किया। उन्होंने अपने कार्यों की लागत भी खुद पर स्वीकार की, जिसमें असुविधा, गिरफ्तारी, मार-पीट और यहां तक कि मौत भी शामिल थी।

अहिंसक कार्यों में अक्सर आर्थिक और राजनीतिक उत्तोलन भी होता था। बसों और डिपार्टमेंट स्टोर के बहिष्कार ने निजी व्यवसाय पर अपनी बहिष्करण की नीतियों को समाप्त करने का दबाव डाला। अलग-अलग लंच काउंटरों पर धरने से व्यवसाय तब तक बाधित रहा जब तक कि मालिकों ने भरोसा नहीं किया। उद्दंड प्रदर्शनों के कारण अक्सर बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां होती थीं, जो पुलिस और न्यायिक व्यवस्था पर भारी पड़ती थीं। क्रूरता के लिए पुलिस के उकसावे ने आंदोलन के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक सहानुभूति प्राप्त की।

बीसवीं सदी के अंत और इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में, दुनिया भर के कई संघर्षों में निष्क्रिय प्रतिरोध का उपयोग अधिक स्पष्ट रूप से रणनीतिक और

औजारों के नैतिक चरित्र से कम चिंतित हो गया। निष्क्रिय प्रतिरोध, अहिंसक कार्रवाई के कई रूपों में से एक, पारंपरिक राजनीति से वंचित लोगों को शक्ति का स्रोत प्रदान करता है। जब व्यापक रणनीति के हिस्से के रूप में उपयोग किया जाता है, तो इसने सामाजिक परिवर्तन के लिए शक्तिशाली आंदोलनों में योगदान दिया है।

आधुनिक सभ्यता की आलोचना (Critique of Modern Civilization)

मोहनदास करमचंद गांधी बीसवीं शताब्दी में भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन के नेता थे, जिसकी परिणति 1947 में भारत की स्वतंत्रता में हुई। लेकिन, गांधी का धर्मयुद्ध भारतीय स्वशासन की इच्छा से अधिक था। उनके योगदान को पूरी तरह से तभी समझा जा सकता है जब उनके द्वारा विकसित नए राजनीतिक दर्शन को समझा जाये। उनके दर्शन में भारत सरकार और स्वयं भारतीय नागरिकों में बदलाव का आह्वान किया गया था। वास्तव में, गांधी द्वारा निभाई गई कई भूमिकाओं में, भारत में ब्रिटिश राज द्वारा प्रतिनिधित्व पाने वाली आधुनिक सभ्यता के दार्शनिक आलोचक के रूप में उनकी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है। गांधी की आधुनिक सभ्यता की आलोचना को पढ़ने से गांधी के राष्ट्रवाद का बौद्धिक संदर्भ और आधुनिक सभ्यता का पता लगाने का मौका मिलता है। आधुनिक सभ्यता की गांधी की आलोचना 1909 में लिखी गई उनकी पुस्तक हिंद स्वराज के पन्नों में दर्ज है। इस पुस्तक में, गांधी भारतीय स्वशासन के लिए एक रास्ता बताते हैं जो न केवल भारतीय सभ्यता और संस्कृति को ऊपर उठाने का प्रयास करता है, बल्कि अंग्रेजों को सांस्कृतिक श्रेष्ठता और सहवर्ती अधिकार की भावना से वंचित करता है

जिसका उन्होंने हमेशा आनंद लिया था। भारत में ब्रिटिश सरकार आधुनिक सभ्यता (जो कि शैतान का साम्राज्य है) और प्राचीन सभ्यता (जो कि ईश्वर का राज्य है) के बीच एक संघर्ष का गठन करती है। एक युद्ध का देवता है, दूसरा प्रेम का देवता है। गांधी के लिए भारतीय स्वतंत्रता की कुंजी अपने देशवासियों के लिए न केवल खुद को अंग्रेजों से छुटकारा दिलाना है बल्कि उन स्पष्ट परिवर्तनों से भी छुटकारा पाना है जो ब्रिटेन ने भारतीय समाज में किए थे। हिंद स्वराज के अंतिम अध्याय में गांधी ने इसका सटीक अर्थ बताया:

"आप जिस सभ्यता का समर्थन करते हैं, हम उस सभ्यता को सभ्यता के विपरीत मानते हैं--- हम आपके स्कूलों और अदालतों को बेकार मानते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे अपने प्राचीन स्कूल और कानून अदालतें बहाल हों--- भारत की आम भाषा अंग्रेजी नहीं बल्कि हिंदी है। इसलिए, आपको इसे सीखना चाहिए--- रेलवे या सेना पर आपके पैसे खर्च करने के विचार को हम बर्दाश्त नहीं कर सकते। हम दोनों में कोई अवसर नहीं देखते हैं।"

गांधी पश्चिमी प्रभावों और परिवर्तनों को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं जबकि उनके कई साथी भारतीय राष्ट्रवादी और यहां तक कि उनके अपने चुने हुए उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू कई परिवर्तनों को सकारात्मक रूप में देखते हैं। वे शिक्षा, तकनीकी सुधार और कानून व्यवस्था कायम करने में अंग्रेजी राज के योगदान को सकारात्मक रूप से देखते हैं। बहुत से भारतीय राष्ट्रवादी मानते थे कि भारतीय सभ्यता को ब्रिटेन ने लोकतंत्र का उपहार दिया लेकिन गांधी लोकतंत्र का भी तिरस्कार करते हुए हिंद स्वराज में कहते हैं - "जिसे आप संसद की जननी मानते हैं वह एक बाँझ महिला और बेसवा

की तरह है"। हालांकि बाद में उन्होंने स्वीकार किया कि उनकी शब्दावली असंयमित और अतिशयोक्तिपूर्ण थी, उन्होंने इस कथन के आवश्यक सत्य पर विश्वास करना जारी रखा, जो यह था कि ब्रिटिश सभ्यता ने संसद के सदस्यों का निर्माण किया जो वास्तव में लोगों का प्रतिनिधित्व करने के लिए बहुत स्वार्थी और पाखंडी थे। और यहीं से गांधी की आधुनिक सभ्यता की सच्ची आलोचना शुरू होती है।

गांधी ने लिखा कि "सभ्यता आचरण का वह तरीका है जो मनुष्य को कर्तव्य का मार्ग बताता है। कर्तव्य का मार्ग और नैतिकता का पालन परिवर्तनीय शब्द हैं"। गांधी के लिए, आधुनिक सभ्यता एक सच्ची सभ्यता नहीं है: नैतिक और आध्यात्मिक विचारों से ऊपर धन और शक्ति की खोज को रखकर, आधुनिक सभ्यता और इसकी संस्थाओं ने मानव स्वभाव को बदतर के लिए बदल दिया। यह स्पष्ट होना महत्वपूर्ण है कि गांधी की आलोचना एक आध्यात्मिक या धार्मिक घटक के साथ पूंजीवादी समाजों की क्लासिक मार्क्सवादी आलोचना का पूर्वाभ्यास नहीं है। गांधी के लिए कर्तव्य, केवल अपने भाई की मदद करना या किसी के श्रम के फल को साझा करना नहीं था, हालांकि इसमें वह शामिल हो सकता है। यह एक धार्मिक और आध्यात्मिक विचार था कि सत्ता, संपत्ति, सुरक्षा और आनंद की खोज को केवल नैतिकता और धार्मिक सत्य के ढांचे के भीतर ही सही ढंग से आगे बढ़ाया जा सकता है। गांधी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना सिर्फ इसलिए नहीं की कि उसका मकसद ही असमानतापूर्ण समाज और सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करना है बल्कि उन्होंने आधुनिक सभ्यता की आलोचना

इसके साधनों- अच्छाई-बुराई का विचार किये बिना धन और शक्ति की नग्न खोज के कारण भी की। यह स्पष्ट करना भी महत्वपूर्ण है कि गांधी हर तरह की पश्चिमी और आधुनिक चीज के आलोचक नहीं थे। गांधी ने अंग्रेजों द्वारा दिए गए कई सांस्कृतिक उपहारों को स्वीकृति भी दी: नागरिक स्वतंत्रता, अधिकार, समानता, धार्मिक सहिष्णुता और महिलाओं के लिए बेहतर परिस्थितियों की धारणा आदि का गांधी द्वारा स्वागत किया गया। उन्हें यह बात परेशान करती थी कि ये उपहार भारत और अन्य औपनिवेशिक सभ्यताओं के लिए एक बड़ी कीमत पर आए, क्योंकि उनके साथ एक परंपरा आई जिसने भाईचारे पर नहीं स्वार्थ पर जोर दिया; आध्यात्मिक सशक्तिकरण पर व्यक्तिगत शक्ति की खोज और सबसे बढ़कर तो अहिंसा पर हिंसा को महत्व दिया।

विकेन्द्रीकरण (Decentralization)

यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत सभी अधिकार किसी विशिष्ट व्यक्ति या पद के पास एकत्रित न कर उन व्यक्तियों को प्रत्यायोजित कर दिए जाते हैं, जिनसे यह संबंधित होते हैं।

विकेन्द्रीकृत सत्ता गाँधी जी के आदर्श राज्य का एक प्रमुख लक्षण है। गाँधीजी सम्पूर्ण भारत में प्राचीन ढंग के स्वतन्त्र और स्वावलम्बी ग्राम समाजों की स्थापना करना चाहते थे जिसका आधार ग्राम पंचायतें होंगी। विकेन्द्रीकरण को और अधिक सफल बनाने के लिए गाँधीजी का सुझाव था कि ग्राम पंचायतों का निर्वाचन तो प्रत्यक्ष रूप से हो, लेकिन ग्राम के ऊपर जो भी प्रशासनिक इकाइयाँ हों, जैसे प्रादेशिक सरकार, राष्ट्रीय सरकार आदि के

विधान मण्डलों का चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली से हो जिससे सत्ता का समस्त केन्द्र ग्राम पंचायतें ही बनी रहें। इस प्रकार की व्यवस्था में गाँवों में सुशासन और स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न होगी और वे वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्र होंगे।

गाँधीजी के आदर्श राज्य में आर्थिक क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण को अपनाने का सुझाव दिया गया है। विशाल तथा केन्द्रीयकृत उद्योग लगभग समाप्त कर दिये जायेंगे और उनके स्थान पर कुटीर उद्योग चलाये जायेंगे। उन मशीनों का तो प्रयोग किया जा सकेगा जो व्यक्तियों के लिए सुविधाजनक होंगी किन्तु मशीनों का मानवीय श्रम के शोषण का साधन नहीं बनाया जायेगा। हर गाँव अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्पादन के साधनों का स्वयं स्वामी होगा। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा और शोषण का अन्त हो जायेगा।

इतिहास (History)

जाति और वर्ण [Caste and Varna]

जाति एक ऐसा समूह है जो प्रजाति या नस्ल से छोटा, जातीय समूह के समान और कई तरह से आदिजाति (आदिवासी समूह या जनजाति) से मिलता-जुलता है। यह एक ऐसा सामाजिक एकक है जिसका न्यूनतम अंतर्विवाही होना अनिवार्य है। यह भी आवश्यक है कि उस एकक के सदस्य जन्मना सदस्यता में बँधे हों, वे समान व्यवसाय करते हों और उनमें एक जाति पंचायत हो। अपना अलग नाम, उसके सदस्यों के नामकरण की कोई विशेषता और विशिष्ट वेशभूषा होने से भी उस एकक को अलग जाति के रूप में पहचान मिलती है। समाजशास्त्र की ज़्यादातर पाठ्यपुस्तकों में जाति को वर्ग के विपरीत श्रेणी में रख कर इसकी पुनरुक्तिकृत परिभाषा दी जाती है। इस परिभाषा के अनुसार वर्ग एक खुली जाति है और जाति एक बंद वर्ग है। दरअसल, इस परिभाषा का मतलब केवल यह है कि दोनों एक जैसे ही हैं। अंतर है तो केवल इतना कि वर्ग की सदस्यता ज़्यादा लचीली होती है, जबकि वर्ग जैसी गतिशीलता की जाति में कोई सम्भावना नहीं होती। जो जिस जाति में जन्म लेता है वह आजन्म उसी का सदस्य रहता है, जबकि वर्गों के सदस्य ऊपर-नीचे आ जा सकते हैं। उल्लेखनीय यह है कि किसी भी समाज में दोनों ही सामाजिक श्रेणियों में बहुलता होती है और इसीलिए सामाजिक संरचना में उनके गठन की अपनी विशिष्टताएँ हैं।

अधिकांश समाजशास्त्रीय साहित्य में जाति को एक सांस्कृतिक परिघटना के रूप में लिया जाता है। एक ऐसी परिघटना के रूप में जो केवल हिंदुओं से

जुड़ी है। दरअसल, समाजशास्त्रीय विश्लेषण में जाति को एक संरचनात्मक संज्ञा मानना चाहिए जिसका एक विशिष्ट उदाहरण हिंदू समुदाय है। इसीलिए आदिजाति, जाति और वर्ग में भेद किया जाना चाहिए। जाति-व्यवस्था की चर्चा करते समय हम एक से अधिक जातियों वाले समुदाय या समाज की चर्चा करते हैं; अन्यथा जाति, आदिजाति तथा प्रजाति में भेद नहीं किया जा सकता।

वर्ग की सीमाओं के कोई द्वारपाल नहीं होते इसलिए वर्गों के नामकरण भी नहीं किये जाते। यही कारण है कि उन्हें पहचानना सहज नहीं होता। यह सही है कि एक शिशु का जन्म उसके जन्मदाता के चिन्हित वर्ग में होता है, पर वह अपने कृत्यों और कर्मों से ऊपर उठ सकता है या नीचे गिर सकता है या यथावत रह सकता है। उसकी यह सामाजिक स्थिति उसके परिवार के स्तर पर निर्धारित होती है। जहाँ तक जाति का प्रश्न है वहाँ ऐसी गतिशीलता सिद्धांतरूप में वर्जित हैं। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जाति के स्तर के हिसाब से तय होती है न कि परिवार के स्तर के हिसाब से। इस दृष्टि से जाति कई परिवारों से मिलकर बनती है। वर्ग और जाति परस्पर जुड़ी हुई अवधारणाएँ हैं। लेकिन समझने की दृष्टि से यहाँ उन पर अलग-अलग विचार किया जाएगा। ऐसा करते हुए इस बात पर भी बल दिया जाएगा कि वर्ग एक श्रेणी है जबकि समाजशास्त्रीय दृष्टि से जाति एक समूह है।

आदिजाति या जनजाति की परिभाषा पर आम सहमति नहीं बन पायी है क्योंकि सारे विश्व में फैले आदिजाति कहे जाने वाले समूहों में सांस्कृतिक सम्पर्कों के विभिन्न आयामों के कारण भारी परिवर्तन देखने को मिलते हैं। न

तो आज की सभी आदिजातियाँ निरक्षर हैं न ही सभी सर्वात्मवाद या एनिमिज़म की अनुसरणकर्ता हैं। न ही इन्हें पुरातन अर्थव्यवस्था या प्रौद्योगिकी के स्तर पर एक समान माना जा सकता है। यह अवश्य है कि छोटे-छोटे और दूरस्थ बसे आदिवासी समूह अपने मूल स्थान से ही जुड़े हुए हैं और अंतर्विवाही हैं। ऐसे मूल निवासियों में भी भारी परिवर्तन आ रहे हैं जिन्हें अंग्रेज़ी में इंडीजिनस या एब्रोजिनल कहा जाता है। ऐसी परिवर्तनशील समाज प्रणालियों के लिए सर्वमान्य परिभाषा देना असम्भव सा है। उन्नीसवीं शताब्दी में सांस्कृतिक सम्पर्क में आये इन आदिवासी समाजों को पश्चिमी विद्वानों और उपनिवेशवादी राज्यों ने 'ट्राइब' की संज्ञा दी थी जो आज तक उन पर चस्पाँ है। पर परिभाषा की अब भी तलाश है। यह सही है कि अंतर्वैवाहिकता या ऐंडोगैमी ही एक ऐसा लक्षण है जो एक आदिजाति को जाति-तुल्य बनाता है। अंतर्वैवाहिकता ही जन्मना स्थिति की आधारशिला है। लेकिन जाति को आदिजाति से भिन्न करने वाला यह है कि सम्पूर्ण आदिवासी समुदाय अंतर्विवाही होता है पर जाति-व्यवस्था में अंतर्विवाही जातियों का बाहुल्य होता है और अंतर-जातीय संबंध उसे आदिजाति समूह से भिन्न कर देते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जाति की अवधारणा के दो पक्ष हैं : एकक के रूप में जाति और ऐसे कई एककों की प्रणाली के रूप में प्रचलित जाति-व्यवस्था। दुर्भाग्य से भारतीय संदर्भ में इस अंतर को ठीक से नहीं समझा गया है। जिसकी निंदा होती रहती है वह है जाति-व्यवस्था अर्थात् जातियों के बीच के अंतर्संबंध, खास कर इन समूहों को सोपानीकृत व्यवस्था के रूप में ढालना। लेकिन इस चक्कर में कई विश्लेषक और जाति के आलोचक एकक के रूप में जाति को परिभाषित ही नहीं करते। चूँकि भारत जाति-व्यवस्था का

परम विकसित गढ़ माना जाता है, इसलिए यहाँ भारतीय संदर्भ में इन सब पक्षों पर विचार करते हुए जाति की सामाजिक-संरचनात्मक परिभाषा देने की चेष्टा की जाएगी। भारत में जाति को गलत ढंग से समझा जाता रहा है। इस शब्द का प्रयोग न केवल आम आदमी बल्कि वैज्ञानिकों और पत्रकारों द्वारा भी अलग-अलग अर्थों में किया जाता रहा है। भ्रांति पैदा करने वाले तीन प्रयोग मुख्य हैं :

1. वर्ण: वर्ण हिन्दू-समाज को मुख्य चार भागों में बाँटता है: चतुर्वर्ण। ये वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। भारत में पायी जाने वाली समस्त जातियाँ सिद्धांततः इन चार वर्णों में बँटी हैं। इस दृष्टि के मुताबिक वर्ण स्वयं जाति न होकर जातियों का समूह है। ऐसे ही नये समूह बन रहे हैं जैसे 'यादव' जो अखिल भारतीय संगठन बनाने में जुटे हैं पर जाति की दृष्टि से अब भी अपने-अपने प्रांतों और सांस्कृतिक उपक्षेत्रों तक ही सीमित हैं।

2. गोत्र : यह जाति के भीतर परिवारों को वर्गीकृत करता है। गोत्र एक बहिर्विवाही समूह है इसलिए एक ही गोत्र के लोग एक ही जाति के होते हुए भी आपस में विवाह नहीं कर सकते। विवाह की दृष्टि से लोग अपनी ही जाति में किंतु अपने गोत्र से बाहर विवाह करते हैं। हरियाणा में होने वाली 'ऑनर किलिंगज़' के अधिकतर किस्से सजातीय विवाह के कारण न होकर सगोत्र विवाह के हैं। वहाँ एक ही गाँव में एक ही जाति के होने पर भी विभिन्न गोत्रों के लोगों में विवाह की मनाही होती है क्योंकि सामाजिक दृष्टि से, न कि जैविकीय दृष्टि से, वे भाई-बहन जैसा संबंध निभाते हैं। इसे गाँव-बहिर्विवाह

कहा जाता है, जिसका उल्लेख मध्य प्रदेश और राजस्थान के ग्राम-अध्ययनों में भी मिलता है। गोत्र को जाति का पर्याय मानना गलत है।

3. कई बार लोगों की पारिवारिक उपाधि या जन्मस्थल से जुड़ी सम्बोधन-संज्ञा को भी जाति मान लिया जाता है। यह भ्रामक है : भंडारी, खज़ांची, पडगाँवकर, मंगेशकर आदि पारिवारिक संदर्भ-संज्ञाएँ हैं, जाति-सूचक नहीं। ऐसे ही पंजाबी, बंगाली, मद्रासी आदि संज्ञाएँ उन क्षेत्रों की ओर इंगित करती हैं जहाँ से संदर्भित व्यक्ति आया है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से वर्ण, गोत्र, परिवार की उपाधि या क्षेत्र अथवा पेशे से जुड़ी संज्ञाओं को 'जाति' कहना गलत और भ्रामक है। वर्ण के स्तर पर भी कहा जा सकता है कि ब्राह्मण की शादी ब्राह्मण से ही होती है, इसलिए ब्राह्मण अंतर्वैवाहिकता की अर्हता के अनुकूल है। पर यह गलत है क्योंकि कई ब्राह्मण जातियाँ हैं और अंतर्वैवाहिकता उपजातियों तक ही सीमित है। यदि यह भेद ध्यान में न रखा गया तो हम 'भारतीय' को भी एक जाति मान लेंगे क्योंकि आम तौर से एक भारतीय की शादी एक भारतीय से ही होती है। समाजशास्त्रियों को चाहिए कि अंतर्वैवाहिकता को उस समूह पर निश्चित करें जिसके नीचे के समूह पर विवाह की सम्भावना न हो। उदाहरण के तौर पर यदि किसी जाति में गोत्र के भीतर ही विवाह होने लग जाँएँ तो फिर वह गोत्र की परिभाषा से हट कर एक जाति बन जाएगा और उसके भीतर नये बहिर्विवाही गोत्रों का सृजन आवश्यक हो जाएगा। यही कारण है कि बढ़ती जनसंख्या के साथ आज ऋषि-गोत्र को लोग उतनी तरजीह नहीं देते और लौकिक गोत्र को बहिर्विवाही मानते हैं।

इसी प्रकार जाति से बाहर, पर अपने ही वर्ण के भीतर, विवाह भी होने लगे हैं। यह अंतर्जातीय है, क्योंकि इनमें जाति और वर्ण दोनों की अंतर्विवाहिता बनी रहती है। यदि चार वर्णों के भीतर ही अंतर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ती चली जाए तो हजारों जातियों के स्थान पर घट कर केवल चार जातियाँ ही रह जाएँगी और तब वर्ण का स्वरूप जाति का हो जाएगा। इसी प्रकार अंतर-वर्णीय विवाहों की वृद्धि से व्यवस्था के रूप में जाति की संस्था में आमूलचूल परिवर्तन आयेंगे। और यह सिलसिला शुरू हो गया है। जाति को परिभाषित करने में कई बाधाएँ हैं। इनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :

1. कई प्रकार की जातियाँ होने के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ : ध्यान रखना ज़रूरी है कि सभी जातियाँ एक ही प्रतिकृति के अनुसार नहीं ढली हैं। यह प्रणाली धीरे-धीरे विकसित हुई है और विभिन्न जातियों के उद्गम की विभिन्न कहानियाँ हैं। अलग अलग प्रदेशों में, अलग-अलग जातियों की अपनी विशिष्ट कार्य-परम्परा है और एक ही प्रदेश में भी विभिन्न जातियों में एक से रीति-रिवाज़ नहीं होते।

2. अन्य जातियों के बारे में जानकारी का अभाव या उनके प्रति उदासीनता के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ : आम लोगों द्वारा वर्ण, जाति, गोत्र, उपजाति, धार्मिक समूह या प्रादेशिक समूह में भेद न कर पाने से जाति शब्द का इन विभिन्न समूहों के लिए प्रयोग होता रहता है।

3. 'आदर्श' और 'यथार्थ' के बीच अंतर से उपजी भ्रांतियाँ: आज के संदर्भ में चतुर्वर्ण का आदर्श चरितार्थ नहीं होता क्योंकि समस्त जातियों के बारे में यह कहना कठिन है कि कौन-सी जाति किस वर्ण से उत्पन्न हुई है। कालांतर में

जो नयी जातियाँ उभरी हैं उन्हें भी चतुर्वर्ण के सोपानक्रम में अवस्थित करना कठिन है। जाति की लोचनीयता और परिवर्तनशीलता से उत्पन्न कठिनाइयाँ भी हैं जो जाति को परिभाषित करने में बाधक हैं।

इस आम धारणा के बावजूद कि जाति बड़ी कठोर और अलोचनीय है, भारतीय समाज के अध्येताओं ने ऐसी कई प्रक्रियाओं का पता लगाया है जिनके प्रभाव में जाति की सीमा-रेखाएँ बदलती गयी हैं। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ एक जैसे दीखने वाले समूह मिलकर एक हो गये हैं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ एक जाति बँट कर दो या अधिक जातियों को जन्म दे चुकी है। जाति से बहिष्कृत परिवारों द्वारा समुचित संख्या होने पर अपनी अलग जाति बनाने की मिसालें भी हैं। यहाँ एक जैसा नाम होने से पैदा होने वाली कठिनाइयों का ज़िक्र भी ज़रूरी है। कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो उसके सदस्यों द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय के नाम से जानी जाती हैं। कुछ उस स्थान के नाम पर जानी जाती हैं जहाँ से उनके पूर्वज आये थे, या उस भाषा के आधार पर जानी जाती हैं जो वे बोलते हैं। इस संबंध में उदयपुर, राजस्थान के मोचियों का उदाहरण दृष्टव्य है। ये मोची गुजराती, मालवी और मेवाड़ी मोचियों में बँटे हुए हैं। उनमें आपस में बेटी-व्यवहार नहीं होता पर तीनों ही जूता बनाने के काम में लगे हुए हैं। एक और मज़ेदार बात यह है कि नया जूता बनाने वाले और पुराने जूतों को ठीक करने वाले दोनों ही मोची होते हुए भी दो भिन्न अंतर्विवाही समूहों के सदस्य हैं। अर्थात् वे एक ही जाति के नहीं हैं क्योंकि उनके बीच विवाह नहीं हो पाता और वे भी ऊँचे-नीचे में स्तरीकृत होते हैं। गत कई वर्षों में कुछ जातियों के श्रेष्ठ वर्ग अपनी जाति की कतिपय

परम्पराओं से माँस, शराब, विधवा विवाह आदि को, और यहाँ तक कि अपने परम्परागत व्यवसाय को तज कर अपने जाति-नाम को भी बदलने में सक्षम साबित हुए हैं। जैसे उत्तर प्रदेश में नाई जाति को खवास भी कहा जाता था। पर जाति के कुछ सदस्यों ने उस शब्द का तत्सम रूप श्रीवास खोज निकाला और उसका प्रयोग करने लगे। यह नया नाम श्रीवास्तव से मिलता-जुलता है। इसलिए लोग श्रीवासों को कायस्थ भी मानने लगे। एम.एन. श्रीनिवास ने परिवर्तन की इसी धारा को संस्कृतीकरण का नाम दिया था जो मूलतः स्वतःस्फूर्त थी, न कि ऊँची जातियों द्वारा थोपी गयी। अवश्य ही तथाकथित ऊँची जातियाँ ऐसी जातियों के संदर्भ समूह के तुल्य थीं।

इन कठिनाइयों पर नज़र डालने से साफ हो जाता है कि जाति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ क्यों पायी जाती हैं। राजनीतिक दल इन भ्रामक धारणाओं का लाभ उठाते हुए जाति की सीमाओं के विस्तार में लगे हुए हैं क्योंकि लोकतंत्र में संख्या का महत्त्व है। समाजशास्त्री भी कभी तो जाति की एकक के रूप में और कभी एक व्यवस्था के रूप में परिभाषा देते आये हैं। कई ऐसे हैं जो इन दोनों की मिली-जुली विशेषताओं को गिना कर रह जाते हैं। जी.एस. घुर्ये की परिभाषा भी कुछ ऐसी ही है- लक्षणों की सूची। जाति और वर्ण तथा जाति और उपजाति के लिए एक ही संज्ञा का उपयोग भी भ्रान्त धारणाओं को प्रश्रय देता आया है। भारतीय भाषाओं में सब कास्ट के लिए कोई शब्द ही नहीं है। वर्ण को जाति और जाति को उपजाति मानना भयंकर भूल है।

जाति की एकक के रूप में परिभाषा एम.एस.एफ. नाडेल के सुझाये तरीके से देना उचित होगा। नाडेल का कहना है कि प्रत्येक चिह्नित पद-स्थिति

(जिसके लिए उन्होंने भूमिका या रोल शब्द का प्रयोग किया) है में तीन प्रकार के गुणों का स्तरण होता है। ये हैं परिधीय, समुचित प्रासंगिक, तथा मूलभूत या धुरीय। परिधीय गुण या लक्षण वे हैं जिनके होने या न होने से या उनमें बदलाव आने पर भी भूमिका की प्रभावकारिता में कोई कमी नहीं आती। समुचित या पर्याप्त प्रासंगिक लक्षण वे होते हैं जिनके बदलने या अनुपस्थित होने पर भूमिका के अवबोधन और प्रभावकारिता में अंतर आता है और भूमिका का निर्वाह अपूर्ण सा रहता है। मूलभूत या धुरीय लक्षण वे होते हैं जिनके बदलने या न होने पर भूमिका की पहचान ही समाप्त हो जाती है। प्रचलित परिभाषाओं के वस्तु-विश्लेषण के आधार पर योगेश अटल ने एकक के रूप में जाति को इस प्रकार परिभाषित किया है : मूलभूत या धुरीय लक्षण के अनुसार किसी एकक का न्यूनतम अंतर्विवाही होना; समुचित-प्रासंगिक लक्षण के अनुसार उस एकक में जन्मना सदस्यता, समान व्यवसाय और जाति पंचायत होना; परिधीय लक्षण के रूप में एकक का अपना नाम, उसके सदस्यों के नामकरण की कोई विशेषता और विशिष्ट वेशभूषा होना। इस परिभाषा के अनुसार समाज का वही समूह जाति कहा जा सकता है जो न्यूनतम स्तर पर अंतर्विवाही हो। 'न्यूनतम' उपसर्ग का इस परिभाषा के लिए महत्त्व है। जाति के स्तर के नीचे लोग जिन समूहों में बँटे होते हैं वे बहिर्विवाही होने चाहिए। इस विशेषता के बिना जाति का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता, क्योंकि जाति ऊपर के अन्य समूह भी अंतर्विवाही होते हैं पर उन्हें जाति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। एक अन्य बिंदु की ओर ध्यान आकर्षित करना भी यहाँ आवश्यक है। किसी भी समूह को जब हम अंतर्विवाही कहते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि वह समूह यौन-साथी देने में समर्थ है; अर्थात् उस

समूह के भीतर विवाह सम्भव ही नहीं वरन अपेक्षित भी होता है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि इस समूह के बाहर विवाह नहीं हो सकते। जब एक जाति किसी कारण से दो हिस्सों में बँट जाती है तो भी उनमें अंतर्विवाह हो सकते हैं। इसी प्रकार हिंदू समाज में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन रहा है। अनुलोम विवाह वे होते हैं जिनमें ऊँची जाति का वर अपने से नीची जाति में विवाह कर वधू लाता है। प्रतिलोम इसका ठीक विपरीत है जहाँ ऊँची जाति की कन्या नीची जाति के पुरुष से विवाह करती है और अपने पति की जाति में प्रवेश करती है। जिन स्थितियों में अनुलोम या प्रतिलोम विवाह की मनाही होती है और विवाह केवल जाति के भीतर ही सम्पन्न होते हैं उसे आइसोगैमी अर्थात् कठोर अंतर्वैवाहिकता की संज्ञा दी जाती है। यह एक आदर्श स्थिति मानी जा सकती है। पर आज के दौर में जातिगत विवाहों के साथ ऐसे अंतर्जतीय विवाह भी अधिकाधिक होने लगे हैं जहाँ अन्य जातियों से लायी गयी वधुएँ पति की जाति की सदस्य बन जाती हैं और उनकी संतानें पैतृक व्यवस्था के कारण पिता की ही जाति की जन्मजात सदस्य हो जाती हैं। न्यूनतम अंतर्विवाही कहने का अभिप्राय यह है कि जाति के स्तर के नीचे उस समूह में कोई अंतर्विवाही-एकक नहीं होते।

इस प्रकार जाति-एकक का मूलभूत लक्षण अंतर्वैवाहिकता है। समूह को न्यूनतम स्तर पर अंतर्विवाही होना आवश्यक है। इस लक्षण का कठोरता से पालन करने वाले समूह आइसोगैमस यानी समयुग्मी अथवा पृथक- विवाही हो जाता है। अंतर्विवाह समूह का एक अन्य पक्ष यह है कि वह बहिर्विवाही समूहों में बँटा होता है, जिसे गोत्र या क्लैन कहा जाता है। एक जाति की

दर्शनीयता तब बढ़ जाती है जब उसके सभी सदस्य जन्मजात हों, एक ही व्यवसाय में संलग्न हों, और उस जाति की अपनी एक पंचायत हो। यदि किसी जाति का कोई विशिष्ट नाम है (जो किसी अन्य समूह का नहीं है) और यदि उस जाति के लोगों की अपनी विशिष्ट वेशभूषा है, या नामकरण की कोई खास पद्धति है, या कोई अन्य रीतिरिवाज़ है तो उसके आधार पर उसे अन्य जातियों से अलग पहचानने में सहूलियत होती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि अंतर्वैवाहिकता मूलभूत लक्षण है, दूसरे लक्षण समुचित-प्रासंगिक हैं क्योंकि उनकी उपस्थिति से समूह की पहचान सहज हो जाती है। पोशाक और नाम जैसे लक्षण परिधीय हैं जिनके होने से पहचान और भी स्पष्ट हो जाती है पर जिनके न होने पर भी जाति की एक समूह के रूप में स्वायत्तता बनी रहती है। समुचित-प्रासंगिक लक्षणों में से किसी एक लक्षण का भी लोप होने पर जाति समूह की पहचान में थोड़ी कठिनाई होने लगती है, हालाँकि वह समूह तब तक जाति बना रहता है जब तक कि उसमें न्यूनतम अंतर्वैवाहिकता का नियम निभाया जाता रहता हो। समाजशास्त्रियों को उपजाति शब्द के प्रयोग में भी सावधानी बरतनी चाहिए। जो लोग अंग्रेज़ी शब्द कास्ट का उपयोग वर्ण के लिए करते हैं वे जातियों को उपजाति की संज्ञा देने लगते हैं। वस्तुतः वर्ण के लिए कास्ट शब्द का प्रयोग गलत है, क्योंकि वर्ण जातियों का गुच्छा है। इसी प्रकार उपजाति शब्द का प्रयोग जाति के भीतर के सभी समूहों के लिए भी नहीं किया जाना चाहिए। केवल उस स्थिति में जब जाति स्वयं विभक्त हो जाए तो मूल से टूटे हुए उस समूह के लिए (जो अंतर्विवाही हो सकता है या है) उपजाति की संज्ञा प्रयोग में लायी जाती है। जाति में विच्छेद कई कारणों से हो सकते हैं। जैसे उसका कोई भाग

किसी अन्य व्यवसाय में जुट जाए, या अपने मूलस्थान को छोड़ कर अन्यत्र बस जाए उदाहरण के लिए दक्षिण-पूर्वी पंजाब और उत्तर प्रदेश की कई जिप्सी जातियाँ अंतर्विवाही समूहों में परिणत हो गयी हैं। यद्यपि वे पहले कभी एक ही सम्मिलित अंतर्विवाही समूह का अंग थीं।

1931 की जनगणना में खटीक जाति का उल्लेख है जो बेकन वाला सूअरमार, राजगर, सोमबट्टा, और मेवाफरोश उपजातियाँ बन गयीं। ये उपजातियाँ कुछ काल तक तो आपस में विवाह करती रहीं पर बाद में अंतर्विवाह कम होते गये और उनका स्वतंत्र अस्तित्व बन गया। इसका एक अच्छा उदाहरण बंगाल की कैबर्त्ता जाति का है- जो उत्तर-प्रदेश के केवट जैसी जाति ही है। इसकी अंतर्विवाही सीमाएँ बंगाल तक ही थीं। हो सकता है कि ये समुदाय मूल रूप से आदिवासी हों पर अपने व्यवसाय के कारण और हिन्दू गाँवों में रहने के कारण जाति की भाँति गिने जाने लगे हों। व्यवसाय की दृष्टि से ये दो भागों में बंटे थे : मछुआरे और कृषक। जो मछुआरे का काम करते थे उन्हें जलिया कैबर्त्ता कहा जाने लगा और जो हल चलाते थे उन्हें हलिया कैबर्त्ता। कृषि को उन्नत व्यवसाय मानने के कारण हलिया कैबर्त्ता अपनी लड़कियाँ ऊँचे वधू-मूल्य लेकर जलिया कैबर्त्ता में ब्याह देते थे, पर जलिया कैबर्त्ता की लड़कियाँ हलिया कैबर्त्ता को अस्वीकार थीं। इस प्रकार ये दो भाग प्रतिलोम विवाह-संबंध से जुड़े। धीरे-धीरे ऐसे अंतर-उपजातीय विवाह बंद हो गये और हलिया कैबर्त्ता ने अपना नाम बदल कर महिष्य रख लिया।

एकक के रूप में जाति किसी भी समाज या समुदाय का एक उपसमूह है। समाज या समुदाय के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक कामों में

ऐसी प्रत्येक जाति अन्य जातियों के साथ मिलकर भाग लेती है। उनकी यह भागीदारी नियमों से संचालित होती है। इस प्रणाली को हम जाति-व्यवस्था कह सकते हैं। जाति-व्यवस्था को भी हम तीन लक्षणों में बांट सकते हैं। मूलभूत/धुरीय लक्षण जिसके तहत एक समाज-संस्कृति में कार्यरत अंतर्विवाही समूहों का बाहुल्य होना चाहिए; समुचित-प्रासंगिक लक्षण जिनके मुताबिक इन जातियों का सोपानीकरण होना चाहिए; और परिधीय लक्षण जिनके अनुसार जाति से जुड़े व्यावसायिक विशेषीकरण के कारण श्रम-विभाजन होना चाहिए। जब ये तीनों ही लक्षण किसी समाज-व्यवस्था में हों तो उसे जाति-व्यवस्था कहा जा सकता है। जाति शब्द का इस प्रकार प्रयोग करके उसे आदिजाति – जनजाति से आसानी से अलग करके पहचाना जा सकता है। यह सही है कि एक आदिजाति में वे सब लक्षण पाये जाते हैं जो एकक के रूप में जाति में पाये जाते हैं। किंतु एक आदिजाति एक व्यवस्था के रूप में समझी जानी चाहिए क्योंकि उसके समुदाय में अन्य कोई जाति-समान एकक नहीं होते। दूसरे अर्थों में जाति-व्यवस्था के लक्षण उसमें नहीं पाये जाते। आदिवासी समाज जातियों में बँटा हुआ नहीं होता। लेकिन जब किसी आदिजाति के लोग पास के ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य जातियों के साथ रहने लगते हैं तो फिर वे भी उस ग्राम-व्यवस्था या क्षेत्र-व्यवस्था में एक एकक बन कर रह जाते हैं और जाति ही गिने जाते हैं। अन्य अंतर्विवाही समूहों की भाँति गाँव में रहने वाले आदिवासी परिवार भी एक अंतर्विवाही समूह बने रहते हैं और इस प्रकार जाति का रूप धारण कर लेते हैं। वे जाति-व्यवस्था का उपांग बन जाते हैं। यही कारण है कि गाँवों में रहने वाले आदिवासी परिवार जैसे राजस्थान के गाँवों में भील और मीणा एवं मध्य प्रदेश में गोंड भी एक भिन्न

जाति मान लिए जाते हैं। उनका आदिवासी होना उनका अतीत है। उनका वर्तमान अपने क्षेत्र की जातिव्यवस्था के एकक के रूप में हो जाता है। इनमें से कई तो अपने को हिंदू कहते हैं -क्योंकि हिंदू जीवन-पद्धति में धर्म परिवर्तन की प्रथा ही नहीं है। जो धर्मांतरण कर ईसाई हो गये हैं वे भी जाति जैसा ही बरताव करते हैं। चूँकि आदिवासियों के लिए संविधान में विशेष सुविधाएँ और प्रावधान दिये गये हैं इसलिए उनका अतीत फिर से जाग रहा है या बाहरी प्रभावों से जगाया जा रहा है। हालाँकि गाँवों की व्यवस्था में वे अब भी जाति की भाँति ही हैं। ढाँचागत दृष्टि से ऐसे समूह को ही आदिजाति या ट्राइब कहना चाहिए जिसमें केवल जाति-एकक के लक्षण हों न कि जातिव्यवस्था के।

सामंतवाद (Feudalism)

सामंतवाद एक यूरोपीय विचार-श्रेणी है। यह अंग्रेज़ी भाषा के शब्द फ्यूडलिज़्म शब्द का हिंदी तर्जुमा है। फ्यूडल शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द फियोडेलिस से हुई है। मध्ययुगीन यूरोप में फ्यूडल शब्द का कानूनगत इस्तेमाल हुआ और यह एक प्रकार के सम्पत्तिगत अधिकार का द्योतक बन गया। फ्यूडलिज़्म (सामंतवाद) शब्द के प्रचार का श्रेय मुख्य रूप से अठारहवीं सदी के फ्रांसीसी दार्शनिक बूलेवीये और मोंतेस्क्यू की रचनाओं को जाता है। वे इस शब्द का इस्तेमाल मध्ययुग के दौरान छोटे-छोटे राजकुमारों और अधिपतियों की सम्प्रभुता में साझेदारी व्यक्त करने के लिए कर रहे थे। बाद में इसमें अलग-अलग पहलू जुड़ते गये और एक सामान्य सहमति बनी कि सामंतवाद का आशय उस राजनीतिक ढाँचे और सामाजिक

स्वरूप से है जो दसवीं और बारहवीं शताब्दियों के दौरान पश्चिमी और मध्य यूरोप में प्रणालीगत व्यवस्था का रूप धारण कर चुका था। इस व्यवस्था में सत्ता सामंती भू-स्वामियों के हाथों में थी और उसका स्वरूप अत्यंत विकेंद्रीकृत था। शुरुआती दौर में सामंतवाद को परम्परागत कानूनों पर टिके भूमिस्वामी-दास संबंधों के रूप में देखा गया। बाद में उसे एक पिछड़ी और धीमी गति से बदलने वाली व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाने लगा।

भारतीय संदर्भों में सामंतवाद की प्रथम अभिव्यक्ति कर्नल जेम्स टॉड की रचना अनाल्स ऐंड एंटीक्विटीज़ ऑफ राजस्थान इन 1829-1832 में मिलती है। टॉड ने यह पुस्तक उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मुलाजिम के तौर पर काम करते हुए लिखी थी। इसमें कर्नल टॉड ने सामंतवाद को अपने समकालीन हेनरी हेलम कृत हिस्ट्री ऑफ द मिडिल एजेंज़ की तर्ज पर परिभाषित किया और पाया कि यूरोपीय सामंतवाद की संस्थाएँ और उनका पैटर्न तत्कालीन राजस्थान में भी विद्यमान था। गौरतलब है कि मध्यकालीन यूरोप में भू-स्वामी ही अपने दासों की सुरक्षा और भरण-पोषण का ध्यान रखता था और बदले में उनसे सैन्य एवं अन्य सेवाएँ प्राप्त करता था। दासों और भू-स्वामियों के बीच एक प्रकार की निष्ठा उन्हें अटूट बंधन में बाँधती थी। टॉड ने दिखाया कि भारत के राजपूत नस्ली तौर पर कैसे उसी मध्य-एशियाई सिंथियन श्रेणी से सम्बद्ध थे जिन्होंने यूरोप में कबीलाई संस्कृति का निर्माण किया था। सम्प्रभु और मातहत वर्ग के बीच इस दायित्वबोध ने एक प्रकार के सामंती समझौते को जन्म दिया। टॉड के सामंतवाद संबंधी विचार को बाद के ज़्यादातर साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने

अपनाया और कुछ ने उन्हें अन्य सिद्धांतों द्वारा प्रतिस्थापित किया। पर अंततः सामंतवाद प्राचीन और मध्यकालीन राजनीति की केंद्रीभूत, विभाजक प्राच्यवादी निरंकुशता को व्याख्यायित करने की बहुप्रयुक्त अभिव्यक्ति बन गया।

दूसरी तरफ राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने स्वर्ण युग के पतन के लिए इसी सामंती राजनीतिक अराजकता को उत्तरदायी बताया। 1950-60 के दशक में भारतीय इतिहास-लेखन पर मार्क्सवादी विचारधारा के बढ़ते प्रभाव ने इस संबंध में नया दृष्टिकोण अपनाया। भारतीय सामंतवाद के प्रमुख लक्षणों में से एक पूर्व-औपनिवेशिक भारतीय इतिहास को मार्क्स द्वारा उत्पादन की एशियाई पद्धति की श्रेणी में रखने पर मार्क्सवादी इतिहासकारों में एक राय नहीं थी। मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई पद्धति को वर्ग-संघर्ष के इतिहास की सामान्य गति में एक अपवाद माना था। 1850 के दशक में लिखे अपने बहुतेरे पत्रों में मार्क्स ने दिखाया था कि एशिया में वर्ग नहीं थे क्योंकि सारी सम्पत्ति या तो राजा की होती थी अथवा समुदाय की। इसलिए वहाँ कोई वर्ग-संघर्ष नहीं था और न ही समय के साथ इसमें कोई परिवर्तन आया। यह सोच मोंतेस्क्यू, जेम्स मिल और हीगेल के अपरिवर्तनशील प्राच्य की अवधारणा से साम्यता रखती थी। ये विद्वान मानते थे कि पूर्वी देशों में औपनिवेशिक शासन प्रणालियों की स्थापना से ही वास्तविक गतिशीलता आयी। लेकिन 1950-60 के दशकों के भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकार यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे कि भारत या वास्तव में सम्पूर्ण एशिया की मानवजाति इतने बड़े कालखण्ड में अपरिवर्तनशील ही रही। दामोदर धर्मानंद कोसम्बी ने ऐन

इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, 1956 में सामंतवाद की गम्भीर पड़ताल की। इतिहास लेखन में कोसम्बी ने मार्क्स का अंधानुकरण नहीं किया। उन्होंने प्रमुख मार्क्सवादी धारणाओं एशियाई उत्पादन पद्धति और दास प्रथा को खारिज करते हुए कहा कि भारतीय समाज में न तो यूरोप की तर्ज पर उत्पादन पद्धति का विकास हुआ न ही उत्पादन में दास-पद्धति पायी जाती थी। उनका मानना था कि भारत में एक अलग तरह का सामंतवाद मौजूद था। कोसम्बी ने बौद्धिक और सांस्कृतिक उत्पादन को मौजूदा सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने भगवद्गीता में शासकीय समाज के दर्शन के माध्यम से दिखाया कि सामंत, मालिक, नौकर, प्रजा और राजा किस तरह एक व्यक्तिगत निष्ठा के बंधन से बंधे होते हैं। कोसम्बी ने इसी तरह का सामंती दर्शन सातवीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन के कवि भर्तृहरि के चिंतन में भी चिह्नित किया। कोसम्बी यह मत भी प्रतिपादित करते हैं कि मध्यकालीन भारतीय समाज में यूरोपीय सामंतवाद के प्रमुख तत्व जैसे जागीरदारी प्रणाली, मैनोरियल सिस्टम, भू-सम्पत्ति और कृषि-दास प्रथा आदि मौजूद नहीं थे। उन्होंने भारत में दो तरह के सामंतवाद की चर्चा की। एक था ऊपर से आरोपित सामंतवाद और दूसरा था नीचे से आया सामंतवाद। ऊपर से आये सामंतवाद का तात्पर्य राज्य से है जिसमें एक सम्राट या शक्तिशाली राजा अपने उन सामंतों से नज़राना प्राप्त करता है जो अपने क्षेत्र में अपनी मर्जी से शासन करते हैं और जहाँ उनका पूर्ण अधिकार होता है। जब तक वे सम्राट को नज़राना देते रहते हैं, सम्राट उनसे छेड़छाड़ नहीं करता। नीचे से आये सामंतवाद का तात्पर्य उस अगले चरण से है जिसमें गाँव में राज्य और किसानों के बीच भूमिपतियों के एक ऐसे

वर्ग का उदय होता है जो धीरे-धीरे स्थानीय जनता पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। यह वर्ग प्रभुत्वशाली होता है, सत्ता से सीधे संबंध का दावा करता है और इसके कार्यक्षेत्र में किसी का हस्तक्षेप नहीं होता। कोसम्बी का मानना था कि ऊपर से आने वाला सामंतवाद उन राजनीतिक निर्णयों का परिणाम था जिसके तहत राज कर्मचारियों को भूमि और न्याय संबंधी अधिकार दिये गये थे। जबकि नीचे से आया सामंतवाद अनेक व्यक्तियों और लघुसमूह द्वारा सत्ता के ग्राम-स्तरों से राजाओं के अधीन ज़मींदार और सामंत बनने का परिणाम था। कोसम्बी ने अपनी विशेषता-सूचक पद्धति में सामंतवाद की धारणा को किसी अनुभवजन्य विश्लेषण के बजाय एक सूत्र की शकल में निरूपित किया।

सामंतवाद को लेकर भारत में विश्लेषण की जिस देशज परम्परा की शुरुआत कोसम्बी ने की थी उसे किंचित भिन्नताओं के साथ राम शरण शर्मा ने अपनी रचना इण्डियन फ्यूडलिज़्म, 1965 में और आगे बढ़ाया। शर्मा ने 1920-30 के दशकों के दौरान बेल्जियम के इतिहासकार हेनरी पिरेन द्वारा निरूपित सामंतवाद के उत्थान और पतन संबंधी प्रतिमान का अनुसरण किया। पिरेन ने यूरोपीय सामंतवाद के स्थाई रूप और भूस्वामी-दास संबंधों का विश्लेषण करते हुए बताया कि कैसे मुख्य व्यापार , भूमध्यसागर पार यूरोप में लम्बी दूरी के व्यापार, ने यूरोपीय अर्थव्यवस्था, समाज को तब तक फलने-फूलने दिया, जब तक सातवीं शताब्दी में अरबों के हमलों से उनका विघटन नहीं हो गया। व्यापार-विघटन ने अर्थव्यवस्था का ग्रामीणीकरण करके उसे अंतर्मुखी बना दिया। इसे पिरेन ने एकाकी भूसम्पदा वाली

अर्थव्यवस्था में परिणत होना माना, जहाँ ये भू-सम्पदाएँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर इकाइयाँ थी। पिरेन के अनुसार ग्यारहवीं सदी में धर्मयुद्धों द्वारा अरबों को वापस निकट-पूर्व की ओर खदेड़ दिये जाने से व्यापार का विकास और शहरों का पुनरुत्थान हुआ जिससे सामंतवाद की जमीन खिसकने लगी। राम शरण शर्मा ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में पिरेनवादी सिद्धांतों का अनुकरण करते हुए बताया कि गुप्तकाल के पतन के परिणामस्वरूप कैसे विश्व के विभिन्न भागों के साथ भारत के लम्बी दूरी के व्यापार का पतन हुआ। इसके कारण शहरीकरण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा जिसने आर्थिक संरचना और प्रवृत्ति का ग्रामीणीकरण करते हुए इसे अंतर्मुखी अर्थव्यवस्था के रूप में परिणत कर दिया। राम शरण शर्मा साथ में इस बात को भी जोड़ते हैं कि तब आर्थिक संसाधन दुर्लभ नहीं थे, बल्कि मुद्रा की दुर्लभता थी। उन्होंने बताया कि उत्तर गुप्त काल में व्यापार में आयी गिरावट के कारण राज्याधिकारियों को वेतन के बदले भूमि और धार्मिक कर्मकाण्डों के एवज में ब्राह्मणों को अग्रहार दिये जाने लगे। इस परिघटना का सामाजिक संबंधों पर व्यापक असर पड़ा। परिणामस्वरूप कृषक वर्ग उनका मातहत बनता गया और ऐसे भू-पतियों पर आश्रित होता गया जिनके पास न्यायिक अधिकार भी हुआ करते थे। ऐसे बिचौलियों, जिन्हें राज्य से अनुदान प्राप्त था, से मध्यस्थ वर्ग का उदय भारतीय सामंतवाद संबंधी राम शरण शर्मा की व्याख्या में निर्णायक तत्त्व रूप में सामने आता है। शर्मा ने दिखाया कि कैसे इस दौरान किसान एक जगह भूमि से बँधकर रह गये, उनसे ज़बरन मज़दूरी करायी जाने लगी और बिचौलियों के रहमोकरम पर जीने के लिए मजबूर हुए। साथ ही शर्मा ने तत्कालीन परिस्थितियों में राज्य द्वारा प्रदत्त अनुदानों को दर्ज करने की

अनिवार्य प्रक्रिया के कारण मुंशियों की संख्या में बढ़ोतरी को कायस्थों के जाति रूप में संगठित होने की तरह व्याख्यायित किया। शर्मा बताते हैं कि यूरोप की तर्ज पर भारत में भी लम्बी दूरी के व्यापार के पुनरुत्थान, शहरों के उदय, किसानों के पलायन और मुद्रा आधारित अर्थव्यवस्था के विकास से भारत में सामंतवाद का पतन हुआ। राम शरण शर्मा की इस अवधारणा के अनुसार भारत में सामंतवाद का उदय चौथी शताब्दी के आसपास हुआ और बारहवीं शताब्दी में इसका पतन हुआ। शर्मा ने इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए उत्तर भारत के विभिन्न अभिलेखीय साक्ष्यों का प्रयोग किया।

इस तरह राम शरण शर्मा ने सामंतवाद के बहाने भारतीय इतिहास-लेखन के क्षेत्र में एक बौद्धिक बहस छेड़ दी। इसका भारतीय इतिहास-लेखन पर गहरा प्रभाव पड़ा। कई इतिहासकारों ने शर्मा के इस पक्ष को कुछ और तथ्यों के साथ समर्थन प्रदान किया, यद्यपि व्यवहारतः सामंतवाद के किसी अन्य नवीन पहलू का अन्वेषण नहीं किया गया। बी.एन.एस. यादव और डी.एन. झा भारत में सामंतवाद के नये पैरोकार बन कर उभरे जिसे दक्षिण भारतीय इतिहास लेखन में एम.जी.एस. नारायणन और नोबोरू काराशिमा ने समर्थन प्रदान किया। 1979 में भारतीय इतिहास कांग्रेस के अध्यक्षीय सम्बोधन में हरबंस मुखिया ने 'वाज़ देयर फ्यूडलिज़म इन इण्डियन हिस्ट्री' शीर्षक से एक पर्चा पढ़ा और इसके माध्यम से सामंतवाद की अवधारणा पर शर्मा के तर्कों से असहमत होते हुए कई सैद्धांतिक और तथ्यगत सवाल उठाये। उनका कहना था कि लम्बी दूरी के व्यापार के उत्थान और पतन से सामंतवाद का रिश्ता बहुत स्पष्ट नहीं है। यह कहना मुश्किल है कि शुरुआती मध्यकालीन

भारत में व्यापार और शहरों का कोई खास पतन हुआ या नहीं। इसी तरह यह स्वीकार करना भी दिक्कत-तलब लगता है कि सामंतवाद जैसा जटिल सामाजिक ढाँचा केवल प्रशासनिक और कानूनी कारवाइयों से खड़ा किया जा सकता है। सामंतवाद के एक प्रमुख तथ्य- भूपतियों पर किसानों की निर्भरता- के बारे में मुखिया ने यह माना कि भारत में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। मुखिया ने सामंतवाद को परिभाषित करते हुए लिखा कि, भूपतियों पर किसान का पूरी तरह आश्रित होना सामंतवाद की सर्वस्वीकृत परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि सामंतवाद पूरी दुनिया की व्यवस्था नहीं थी। सामंतवाद अपने पूरे इतिहास में एक विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक संगठन रहा जो पूरी दुनिया में एक जैसा नहीं था। वह एक खास समय और क्षेत्र तक सीमित था जहाँ उत्पादन के लिए विशिष्ट प्रविधि अपनायी गयी और संगठन का निर्माण किया गया। मुखिया ने सामंतवाद को एक संक्रमणकालीन व्यवस्था माना।

सामंतवाद को एक सार्वभौम व्यवस्था मानने से इनकार करते हुए मुखिया ने बताया कि यूरोप की पूर्वपूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में मुनाफा कमाने के बजाय उपभोग की प्रवृत्ति ज़्यादा अहम थी। लिहाज़ा उनके विस्तार की क्षमता स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर से ज़्यादा व्यापक नहीं हो सकती थी। अतः मुखिया के अनुसार सामंतवाद केवल एक क्षेत्रीय परिघटना ही हो सकती थी न कि एक वैश्विक व्यवस्था। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि सामंतवाद की यूरोपीय, चीनी, जापानी और भारतीय किस्मों को तथ्य के तौर पर पेश करने से भी यह समस्या हल नहीं होती क्योंकि सामंतवाद को

सरलीकृत परिभाषा में बाँधने की प्रक्रिया के दौरान भिन्नताएँ इतनी व्यापक हो जाती हैं कि वे उसे अनुपयोगी बना देती हैं। हरबंस मुखिया ने सामंतवाद के संबंध में मध्यकालीन पश्चिमी यूरोपीय और मध्यकालीन भारत के इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा कुछ तथ्यगत आधार प्रस्तुत किये। ये थे पारिस्थितिक दशाएँ, तत्कालीन मौजूदा प्रौद्योगिकी तथा कृषि-क्षेत्र में श्रमिकों का सामाजिक संगठन। मुखिया ने बताया कि पश्चिमी यूरोप की पारिस्थितिकी में खेत जोतने से लेकर बीज बोने, फसल की रखवाली करने, फसल की कटाई-मड़ाई और भण्डारण आदि क्रिया-कलापों के लिए एक वर्ष में धूप के केवल चार महीने मिलते थे। इसके अलावा कृषि कार्य हेतु जिस प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल होता था वह अत्यधिक श्रमसाध्य और भूमि तथा श्रम दोनों की ही उत्पादकता निराशाजनक थी। बीज-उपज अनुपात 1:2.5 था। फलस्वरूप इन चार महीनों में श्रमिकों की माँग बहुत अधिक रहती थी जिसका समाधान तत्कालीन यूरोपीय समाज ने श्रमिकों को भूमि के साथ बाँध कर अर्थात् कृषि-दास प्रथा के रूप में खोजा। भूस्वामी-कृषि दास संबंधों की इस व्यवस्था में धीरे-धीरे तनाव पैदा होने लगा। इस तनाव ने प्रौद्योगिकी सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। फलस्वरूप बारहवीं शताब्दी तक उत्पादन में 1:4 की आनुपातिक वृद्धि हुई। जनसंख्या में वास्तविक वृद्धि हुई। जिससे श्रमिक भूमि बंधन से मुक्त होने लगे। कृषि का विस्तार हुआ और व्यापार एवं शहरीकरण में तेजी आयी। 1348-51 में आयी ब्लैक डेथ की घटना ने, जिसने जनसंख्या का लगभग एक-चौथाई हिस्सा निगल लिया था। इस प्रक्रिया में व्यवधान उत्पन्न किया। फलस्वरूप पुनः श्रमिक-संकट उत्पन्न हो गया। भूस्वामियों ने कृषि-दास प्रथा के पुराने तरीकों को पुनः आत्मसात् करने का प्रयत्न किया।

लेकिन चूंकि कृषकों ने ग्यारहवीं-बारहवीं सहित पिछली दो सदियों में अच्छी स्थिति में जीवनयापन किया था, इसलिए विशेष रूप से 14वीं शताब्दी के दौरान उन्होंने पूरे यूरोप में विद्रोह कर दिया और पलायन कर गये। ये विद्रोह गरीब कृषकों के बजाय सम्पन्न किसानों द्वारा किये गये। चौदहवीं सदी का अंत सामंतवादी महल को खँडहर में तब्दील कर चुका था। भारतीय पारिस्थितिकी की यूरोप से तुलना करते हुए मुखिया इस बात पर ज़ोर देते हैं कि भारतीय पारिस्थितिकी में धूप दस महीने उपलब्ध रहती थी जिससे कृषि-प्रक्रिया को लम्बी अवधि तक विस्तृत करना आसान था। एक ओरजहाँ भीषण गर्मी के बाद की बारिश से ज़मीन की जुताई के लिए बहुत मेहनत की ज़रूरत नहीं पड़ती थी, क्योंकि यहाँ मिट्टी की ऊपरी परत अत्यधिक उर्वर होती थी वहीं दूसरी तरफ सपाट पीठ वाले यूरोपीय बैलों की तुलना में भारतीय बैल अपने कूबड़ के कारण किसान के लिए कहीं ज्यादा लाभदायक थे। साथ ही उन्होंने बताया कि मध्यकालीन भारत में भूमि की उत्पादक क्षमता अधिक होने के कारण साल में दो बार फसल उगायी जाती थी। उन्नीसवीं सदी तक यूरोप के लिए यह कल्पना की बात थी। यूरोपीय कृषि व्यवस्था की तुलना में यह एक बुनियादी अंतर था जिसने भारतीय कृषि के क्षेत्र में श्रम-प्रयोग के एक अलग ढाँचे को जन्म दिया। मुखिया इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि यहाँ बेगार यानी बँधुआ मज़दूरी, वैतनिक अथवा अवैतनिक, शायद ही कभी उत्पादन प्रक्रिया का हिस्सा रहा था। भारतीय संदर्भों में बेगारों का इस्तेमाल ज्यादातर अनुत्पादक कार्यों के लिए होता था, जैसे ज़मींदार का सामान ढोना अथवा विशेष अवसरों पर नज़राना प्रदान करना। वे कहते हैं कि इसी कारण मध्यकालीन भारत में उत्पादन प्रक्रियाओं

की प्रौद्योगिकी में कोई आमूलचूल परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। हरबंस मुखिया निष्कर्ष रूप में इस बात की महत्ता स्थापित करते दिखायी देते हैं कि भारत में तो प्रौद्योगिकी और कृषि-उत्पादन की प्रक्रिया ही स्थिर या अपरिवर्तनशील नहीं रही। मुखिया ने मध्यकालीन भारतीय व्यवस्था को कृषक अर्थव्यवस्था रूप में दर्शाते हुए बताया कि जहाँ एक ओर मध्यकालीन यूरोप के कृषि-दास का श्रम जमींदार के नियंत्रण में था, वहीं दूसरी ओर भारतीय परिप्रेक्ष्य में कृषकों का श्रम उसके खुद के नियंत्रण में होता था। भू-राजस्व के एक हिस्से पर ही राज्य का नियंत्रण होता था। मुखिया बताते हैं कि श्रम-नियंत्रण संबंधी तनाव के कारण बारहवीं सदी के यूरोप की कृषि उत्पादन प्रणाली का सामंती से पूँजीवादी रूप में परिवर्तन होने लगा था। जबकि भारतीय संदर्भों में इस प्रकार का रूपांतरण बीसवीं सदी में ही अंकुरित होता दिखायी दिया। राम शरण शर्मा ने इसके जवाब में 1985 में 'भारतीय सामंतवाद किस प्रकार सामंती था?' नामक लेख लिखा जिसमें उन्होंने यह तो स्वीकार किया कि सामंतवाद एक सार्वभौम परिघटना नहीं थी पर साथ ही इस बात को उठाया कि सभी पूर्व-पूँजीवादी समाजों पर यह बात लागू नहीं होती। हरबंस मुखिया के तर्कों को काटते हुए उन्होंने बताया कि देश के कई हिस्सों में ज़बरन मज़दूरी के प्रमाण मिलते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि आरंभिक मध्यकाल में सामंतवाद मौजूद था जिसमें भूपतियों का एक वर्ग और मातहत किसानों का एक वर्ग शामिल था। दोनों ही कृषक अर्थव्यवस्था पर आश्रित थे। इससे पता चलता है कि व्यापार और शहरीकरण का हास हुआ और धातु से बनी मुद्राओं में तेज़ी से कमी आयी। सामंतवाद को एक आर्थिक प्रक्रिया मानते हुए शर्मा ने बताया कि सामंतवाद, समाज में

आर्थिक एवं सामाजिक संकटों के क्रम में विकसित हुआ, और कलियुग की अवधारणा अस्तित्व में आयी। बी.एन.एस. यादव ने सोसाइटी एंड कल्चर इन द नॉर्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी, 1973 में इस कलियुग संबंधी अवधारणा के लक्षणों पर दृष्टिपात करते हुए बताया कि समाज की एक अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण से कलियुग भी अछूता नहीं रह गया था। डी.एन. झा ने द फ्यूडल ऑर्डर: स्टेट, सोसाइटी एन आइडियालॅजी इन अर्ली मिडिवल इण्डिया, 2000 में उत्तर-भारत की जगह प्रायद्वीपीय भारत में मिले प्रमाणों पर ध्यान दिया। उन्होंने कलियुग को व्याख्यायित करने वाले साक्ष्यों के आधार पर बताया कि ऐसे संकट की उपस्थिति ब्राह्मणवादी उत्तर भारत में अपेक्षित थी। भैरवी प्रसाद साहू ने लैण्ड सिस्टम एंड रूरल सोसाइटी इन अर्ली इण्डिया, 1997 में संकट के सूचक-स्वरूप कलियुग की अवधारणा के साक्ष्य की वैधता पर ही सवाल खड़ा कर दिया। आगे चल कर राम शरण शर्मा ने कृषक विद्रोहों के कई अन्य उदाहरणों की खोज की और अर्ली-मिडिवल इण्डियन सोसाइटी : ए स्टडी इन फ्यूडलाइज़ेशन, 2001 में अपने आलोचकों का सिलसिलेवार खण्डन किया। इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सैद्धांतिक नज़रिये का प्रयोग करते हुए सामाजिक भेद और आर्थिक विकास के चरण तथा विचारधारा के क्षेत्र में आये बदलावों को भी चिह्नित किया।

सामंतवाद की धारणा का पक्षधर खेमा भक्ति की परिघटना को किसी देवता के प्रति सम्पूर्ण समर्पण, अधीनता एवं निष्ठा संबंधी विचारधारा को ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के आधार-स्तम्भ के रूप में देखता है। जिसके पीछे संभवतः यह

मान्यता है कि समर्पण और निष्ठा को बड़ी आसानी से सामंतों या स्वामी को स्थानान्तरित किया जा सकता था। पिरेन के विचारों का खण्डन करते हुए मोरिस डॉब ने स्टडीज़ इन द डिवेलपमेंट ऑफ कैपिटलिज़्म, 1946 में व्यापार और सामंतवाद के बीच विरोधाभास पर सवाल खड़ा करते हुए तर्क दिया कि पश्चिमी यूरोप में व्यापार के उभार की वजह से सामंतवाद का पतन नहीं हुआ, बल्कि ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि गाँवों में भूस्वामियों के बढ़ते शोषण के कारण कृषक शहरों की ओर पलायन करने लगे थे। भारतीय संदर्भों में व्यापार के पतन और मुद्रा की कमी संबंधी धारणा के साथ-साथ भारतीय सामंतवाद में काल संबंधी समस्याओं पर प्रकाश पड़ा। डी.एन. झा ने राम शरण शर्मा के इस मत का खण्डन किया भारत में सामंतवाद के उदय और उत्पादन के सामंती स्वरूप में परिवर्तन होने का कारण लम्बी दूरी के बाहरी व्यापार का पतन था जिसके परिणामस्वरूप आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था नष्ट हो गयी। इतिहासकारों ने दावा किया है कि यूरोप के ही समानांतर एक हज़ार ईस्वी के आसपास भारत में व्यापार का पुनरुत्थान हुआ। लेकिन भारतीय संदर्भों में यह बात प्रामाणिक रूप से सामने आयी है कि भारत के अनेक क्षेत्रों में इससे बहुत पहले ही व्यापार फल-फूल रहा था। बी.डी. चट्टोपाध्याय ने द मेकिंग ऑफ अर्ली मिडिल इण्डिया, 1994 में दर्शाया है कि यह परिघटना कम से कम एक शताब्दी पहले घटित हो चुकी थी। रणबीर चक्रवर्ती ने पर्याप्त प्रमाण के साथ अपनी कृतियों ट्रेड इन अर्ली इण्डिया, 200) और ट्रेड एंड ट्रेडर्स इन अर्ली इण्डियन सोसाइटी, 2002 में फलते-फूलते व्यापार के साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं। एक ओर मुद्रा की कमी संबंधी अवधारणा का बी.डी. चट्टोपाध्याय ने ज़बरदस्त प्रतिवाद किया वहीं जॉन एस.

डेल ने भी लिविंग विदाउट सिल्वर : द मोनिटरी हिस्ट्री ऑफ अर्ली मिडिवल नॉर्थ इण्डिया, 1990 में मुद्रा के अभाव संबंधी धारणा को चुनौती देते हुए बताया कि केवल सोना, चाँदी या तांबा जैसी धातुएँ ही मध्यकालीन समाज में मुद्रा का एकमात्र रूप नहीं थी। बकौल मार्क ब्लॉक लगभग हर चीज़ विनिमय का माध्यम बनकर मुद्रा का कार्य कर सकती थी। भारत में विनिमय-माध्यम के रूप में कौड़ियों के इस्तेमाल की महत्ता ने हाल के इतिहासकारों में रुचि पैदा की है। यह तथ्य इस लिहाज़ से और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि कौड़ियों की प्राप्ति में वस्तुतः लम्बी दूरी का व्यापार शामिल था, क्योंकि कौड़ियाँ सुदूर मालदीव से आती थीं।

सामाजिक संगठन : जेंडर और परिवार (Social Organisation : Gender Family & Household)

जेंडर (Gender)

जेंडर एक सामाजिक परिघटना है जो कि स्त्री और पुरुष होने के जैविक भेद को सामाजिक निर्मिती प्रदान करता है। जेंडर नारीत्व और पुरुषत्व के उस सामाजिक संदर्भ को व्याख्यायित करता है जिसमें स्त्री और पुरुष के बीच पाए जाने वाले अंतरों को सामाजिक अंतर बनाकर लैंगिक भेदभाव उत्पन्न होने वाली स्थिति को एक विमर्श के रूप में अवस्थिति प्रदान करता है। इस तरह जेंडर की अवधारणा सामाजिक और सांस्कृतिक ज्यादा है बजाय जैविक होने के। इसका संबंध स्त्रियोचित और पुरुषोचित व्यवहार, गुणों और भूमिका आदि को समझने का रहा है। इस अवधारणा के तहत यह समझने

की कोशिश की जाती है कि यह औरत और पुरुष होने की पहचान नैसर्गिक नहीं बल्कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गठन का प्रतिफल है।

परिवार एक मूलभूत और प्राथमिक संस्था है जिससे समाज का निर्माण होता है; जबकि एक मान्यता यह भी रही है कि यह समाज का एक अंग है या उसकी इकाई है तदनुसार परिवार समाज का 'कारण' है तो दूसरी तरफ देखने पर यह उसका 'परिणाम' भी है। एक मान्यता यह है कि परिवार स्त्री और पुरुष के जैविक संबंधों के आधार पर बनी एक प्राकृतिक संरचना है जो कि शाश्वत है और समाज के विकास में प्रकृति के नियमों से निरपेक्ष है, जबकि जेंडरवादी विमर्श ने यह बहस छेड़ दी है कि सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ परिवार जैसी संस्था में भी परिवर्तन संभव है। क्योंकि स्त्री और पुरुषों के जैविक संबंधों से जो पितृसत्ता कायम होती है उसको पीढ़ी दर पीढ़ी बरकरार रखने का एक ही माध्यम है वह है परिवार, यदि स्त्री पुरुषों के संबंधों में एक सामाजिक परिवर्तन की संभावना है तो निश्चय ही एक समय के बाद परिवार की संरचना में भी परिवर्तन आएगा और आ भी रहा है।

प्रतिरोध (Resistance)

बहुत से समाजशास्त्रीय विमर्शों का मूलभूत आधार प्रतिरोध ही रहा है यदि हम किसी समकालीन विमर्श की ओर देखें तो पाएंगे कि इस शब्द की महिमा सैकड़ों वर्षों पूर्व की है, जहां धीरे-धीरे अलग-अलग वर्गों और बुद्धिजीवियों ने इस सिद्धांत को बार-बार कहीं ना कहीं अपने दर्शन, राजनीतिक विचार और अपने सिद्धांत में इसका प्रयोग किया है। प्रारंभिक आधुनिक काल में प्रतिरोध के सिद्धांत का विकास जटिल था और सोलहवीं

शताब्दी में धार्मिक युद्धों के दौरान फ्रांसीसी लेखकों के राजनीतिक, दार्शनिक और कानूनी तर्कों पर आधारित था।

यूरोपीय पुनर्जागरणवाद में वैज्ञानिकता और वस्तुनिष्ठता के आधार पर अपने तर्कों को सुदृढ़ करते हुए एक खास तरह के प्रतिरोध को जन्म दिया जिसका उद्देश्य उस समय के धार्मिक संगठनों की प्रभुता को चुनौती देना था। समकालीन विश्व में यदि हम देखें तो अधिकार न्याय और लोकतंत्र स्थापित करने के लिए बहुत तरह के प्रतिरोध हमें दिखाई पड़ते हैं इस सिद्धांत का प्रतिपादन इसीलिए किया गया है कि यह मनुष्य के बुनियादी हक को बचाए रखना है। चाहे वह लैंगिक विमर्श हो या नस्लीय भेदभाव या फिर लोकतंत्र बनाए रखने के लिए वैश्विक समुदाय की ओर से एक सिविल वॉर की मांग हो यह सब प्रतिरोध के ही उदाहरण हैं।

अलगाव (Alienation)

अलगाव कार्ल मार्क्स द्वारा विकसित एक सैद्धांतिक अवधारणा है जो उत्पादन की पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर काम करने के अलग-अलग, सम्मानजनक और अपमानजनक प्रभावों का वर्णन करती है। विभिन्न अर्थों एवं संदर्भों में देखा जाए तो अलगाव एक ऐसी सामाजिक-मानसिक स्थिति का परिचायक है जिसमें व्यक्ति अपने सामाजिक परिवेश से कट जाता है, विसरित हो जाता है। सामाजिक परिस्थिति द्वारा उत्पन्न व्यक्ति की यह ऐसी मनःस्थिति है जिससे वह अपने समाज, समूह, पर्यावरण तथा स्वयं अपने से ही असंबद्धता अनुभव करने लगता है। मेल्विन सीमन ने इस अवधारणा का प्रयोग शक्तिहीनता, अर्थशून्यता, आदर्शशून्यता, पृथक्कता, अवयक्तिकरण आदि

अर्थों में भी किया है। इस अवधारणा का प्रयोग प्रजातिक पूर्वाग्रहों, वर्ग-संघर्षों, औद्योगिक संबंधों, उग्रवाद, राजनैतिक उदासीनता आदि समस्याओं में देखा जा सकता है।

यद्यपि इस अवधारणा का प्रयोग सबसे पहले हीगल ने अपनी कृतियों में किया पर यह मार्क्स ही था जिसने इसे आदर्शवाद के घेरे से निकालकर एक प्रमुख समाजशास्त्रीय अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया और इसका प्रयोग आधुनिक पूंजीवादी विसंगतियों को दर्शाने में किया। मार्क्स का विश्वास है कि मनुष्य में प्रकृति प्रदत्त रचनात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है और वह प्रवृत्ति के उपयोग तथा दूसरों के सहयोग द्वारा वाह्य संसार को बदल देता है अर्थात् वह अपने निर्माण का स्वयं निर्माता है। इस प्रवृत्ति पर अब दूसरों का नियंत्रण हो गया है। धार्मिक क्षेत्र में अलौकिक शक्ति को समस्त ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का कारण तथा मनुष्य को उनके अधीन माना जाता है। आर्थिक दृष्टि से धन इस प्रवृत्ति का संचालक बन गया। इस अर्थ में अब मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-निर्माता नहीं रहा। मार्क्स के इस सिद्धांत को लेकर वेबर से लेकर सोरोकिन तक कई सामाजिक चिन्तक पूरी तरह सहमत नहीं दीखते हैं, फिर भी अलगाव की यह अवधारणा सामाजिक चिंतन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

वैश्विक मुद्दे (Global Affairs)

आधुनिक राज्य की दक्षिण एशियाई राहें (South Asian Trajectories of the Modern State)

उत्तर-औपनिवेशिकता (Post Colonialism)

संस्कृतियों और समाजों पर उपनिवेशवाद के प्रत्यक्ष-प्रच्छन्न प्रभावों का अध्ययन करने की प्रक्रिया में जन्मे विमर्श को उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत या उत्तर-औपनिवेशिकता की संज्ञा दी गयी है। हालाँकि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से ही विचारों के क्षेत्र में साम्राज्यवाद की जकड़ से आज़ाद हुए उत्तर-औपनिवेशिक राज्य का तात्पर्य-निरूपण करने का प्रयास होने लगा था, लेकिन पहले साठ के दशक में फ्रेज़ फानो और सत्तर के दशक में एडवर्ड सईद की रचनाओं के प्रभाव ने औपनिवेशिकता से ग्रस्त और उत्पीड़ित कर्ता की मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचना बोलने की आवश्यकता को रेखांकित किया। इस प्रक्रिया में कोलोनियल डिस्कोर्स थियरी उभरी। बाद में उत्तर-संरचनावाद से प्रभावित साहित्य-सिद्धांतकारों गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक और होमी के. भाभा ने इस डिस्कोर्स थियरी से खुद को विशिष्ट साबित करने के लिए औपनिवेशिक से पहले उत्तर शब्द जोड़ा। दिलचस्प बात यह है कि इन लेखकों की शुरुआती रचनाओं में एक संज्ञा के रूप में उत्तर-औपनिवेशिकता का इस्तेमाल उन अर्थों में नहीं मिलता जिन अर्थों में इसे आज समझा जाता है। उस समय तक उत्तर-औपनिवेशिकता का

मतलब था राष्ट्रमण्डलीय देशों के साहित्य का अध्ययन या नव-स्वतंत्र देशों के साहित्यों के बीच होने वाली अन्योन्यक्रिया। लेकिन 1990 में प्रकाशित अपने एक निबंध संग्रह द पोस्ट-कोलोनियल क्रिटिक में स्पिवाक ने जिस तरह इस पद का प्रयोग किया गया, उसके बाद से इसका मतलब बदल गया। आज उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत के दायरे में यूरोपीय उपनिवेशवाद से राजनीतिक मुक्ति प्राप्त करने वाले समाजों और संस्कृतियों के राजनीतिक, भाषाई और सांस्कृतिक अनुभवों के इर्द-गिर्द चलने वाले विमर्श आते हैं। यहाँ स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन मुख्यतः पश्चिमी अकादमिक क्षेत्रों में विकसित हुआ विमर्श है, हालाँकि तीसरी दुनिया के बुद्धिजीवियों में भी इसके ग्राहकों की कमी नहीं है।

फ्रेज़ फानो का तर्क यह था कि साम्राज्यवाद की अधीनता में रहते-रहते उपनिवेशितों ने स्वयं को राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हेय समझने की मानसिकता को कुछ इस तरह से आत्मसात कर लिया है कि बाहरी रूपों में उसका पता नहीं लगता। इस प्रक्रिया में पूर्व-उपनिवेशितों की अपनी अस्मिता पर उपनिवेशवाद की अमिट छाप लग गयी है। एक प्रजातीय और सांस्कृतिक कमतरी का एहसास उनके मानस पर छा गया है। फानो ने इस सिलसिले में भाषा की भूमिका रेखांकित की है कि किस तरह फ्रेंच उपनिवेशवाद के तहत क्रियोल भाषा को हीन और फ्रॉंसीसी को श्रेष्ठता की आभा मिली। उपनिवेशितों को मजबूरन अपने शासकों की भाषा बोलनी-लिखनी पड़ी।

फानो के इस विमर्श ने बुनियाद का काम किया। इसके बाद एडवर्ड सईद ने अपनी विख्यात रचना ओरिएंटलिज़म में पश्चिम के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद पर पड़े विद्वत्ता के पर्दे को हटा कर दिखाया कि किस तरह यूरोपीय लेखकों, साहित्यकारों और अनुसंधानकर्ताओं द्वारा किया गया अफ्रीका, एशिया और मध्य-पूर्व का चित्रण तथ्यों पर आधारित न हो कर कुछ पूर्व-निर्धारित रूढ़ियों पर टिका हुआ है। सईद ने यूरोकेन्द्रीयता के उद्गम की शिनाख्त की और बताया कि किस तरह प्राधिकार की परिभाषा बदल दी गयी और सामी भाषाओं और 'प्राच्य' का अवमूल्यन हुआ। यूरोकेन्द्रीयता के स्रोतों की खोज करने के बाद सईद ने साबित किया कि किस तरह प्राच्य दरअसल पश्चिमी विमर्श की गढ़ंत है और इस गढ़ंत का मकसद है अरब और इसलामिक दुनिया पर अपने प्रभुत्व को न्यायसंगत सिद्ध करना। इसके लिए सईद ने ब्रिटिश, फ्राँसीसी और अमेरिकी आधुनिक इतिहास द्वारा इस्लामिक विश्व के साथ किये गये सुलूक की जाँच-पड़ताल की।

कोलोनियलिज़म शब्द के साथ पोस्ट (उत्तर) लगाने के निहितार्थों को लेकर उत्तर-औपनिवेशिकता के समर्थकों और विरोधियों के बीच काफी बहसें रही हैं। बौद्धिकों के एक तबके की मान्यता है कि पोस्ट से मतलब निकालना चाहिए उपनिवेशवाद के ख़ात्मे के बाद की परिस्थिति। लेकिन इस सहज अर्थ-निरूपण से असहमत विद्वान पोस्ट शब्द को वि-उपनिवेशीकरण की असमाप्त प्रक्रिया और नव-उपनिवेशीकरण की चालू प्रक्रिया के संकेतक के तौर पर देखना पसंद करते हैं। चूँकि पोस्ट- कोलोनियलिज़म मुख्यतः पश्चिमी विद्वत्ता (भले ही इसके कुछ प्रमुख नाम भारतीय हों) की देन है, इसलिए

इसके कुछ आलोचकों ने ध्यान दिलाया है कि इस विमर्श में कई तरह की विभिन्नताओं और विविधताओं को खामोश कर देने की प्रवृत्ति है। जैसे, यह तीसरी दुनिया के देशों और संस्कृतियों के बीच अहम अंतरों की उपेक्षा करता है। यह एशियाई, अफ्रीकी और कैरेबियन संस्कृतियों को एक ही खाने में डाल देता है। इसी तरह यह विमर्श आंतरिक उपनिवेशवाद से ग्रस्त यूरोपीय समुदायों (जैसे आयरिश, वेल्स) को पूरी तरह से अदृश्य कर देता है। तीसरे, उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श तीसरी दुनिया के देशों के आपसी संबंधों को नज़रअंदाज़ करते हुए औपनिवेशिक ताकतों से उनके संबंधों पर ही गौर करता रह जाता है। चौथी आलोचना यह है कि उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श में साम्राज्यवाद की ताकत को बढ़ा-चढ़ा कर आँकने की प्रवृत्ति है।

उत्तर-औपनिवेशिकता का एक अहम सिरा डायसपोरा अध्ययन के साथ भी जुड़ा हुआ है। इस क्षेत्र के विद्वानों का ज़ोर यह पता लगाने पर रहता है कि औपनिवेशिक तिजारत और उत्पादन के हित साधने के लिए हुए जबरन आव्रजन से पैदा हुई डायस्पोरिक आबादियों का सांस्कृतिक मानस किस तरह से बना है। अपनी ज़मीन से लम्बी अवधि तक दूर रहने के बावजूद इन आबादियों में सांस्कृतिक निरंतरता के कौन- कौन से तत्व मौजूद हैं, और उन्होंने अपनी रिहाइश वाली धरती के साथ कैसा रिश्ता कायम किया है। इस प्रक्रिया में डायसपोरा समाज काफी-कुछ खोता और पाता है। चूँकि उनके हितों की संरचना स्थानीय मूल वासियों के हितों से अलग होती है, इसलिए उनकी राजनीति भी अध्येताओं के लिए विशेष आकर्षण का केंद्र है। खास बात यह है कि डायसपोरा की राजनीति दोनों तरफ अपना असर छोड़ती है।

वह न केवल अपनी रिहाइश वाले देश को प्रभावित करती है, बल्कि अपने गृह-देश की राजनीति में भी अलग-अलग ढंग से हस्तक्षेप करती है।

उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन में मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं : मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी और उत्तर-संरचनावादी। दिलचस्प बात यह है कि तीसरी दुनिया के नारीवादियों ने इन तीनों रुझानों में जम कर हस्तक्षेप किया है। उनका मानना है कि इससे उन्हें जेंडर, सेक्सुअलिटी और पितृसत्ता के विविध विमर्शों को एक बृहत्तर ज़मीन पर सम्बोधित करने में मदद मिलती है।

मार्क्सवादियों और मार्क्सवाद से प्रभावित नारीवादियों ने उन संस्थागत ज़रियों को प्रश्नांकित किया है जिनके तहत उत्तर-औपनिवेशिक सांस्कृतिक पाठ रचे गये हैं और प्रसारित हुए हैं। इन विद्वानों ने यह देखने की कोशिश की है कि किस तरह स्थानीय लोकप्रिय संस्कृतियों पर उच्च-भू सौंदर्यशास्त्रीय अभिरुचियों का वर्चस्व कायम किया गया है, और इसी प्रक्रिया में उत्तर-औपनिवेशिक बुद्धिजीवी आम आदमी का सांस्कृतिक नेतृत्व करने वाले हरावल की भूमिका ग्रहण कर लेता है। खास तौर से नारीवादी विदुषियों ने संस्कृति के उत्पादन में जेंडर और सेक्सुअलिटी की भूमिका पर रोशनी डाली है। मार्क्सवाद और उत्तर-औपनिवेशिकता की इस अन्योन्यक्रिया में यह भी सामने आया है कि कई बार तीसरी दुनिया को पहली दुनिया (पश्चिमी विश्व) के गुज़रे ज़माने की तरह पढ़ने की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ी है। इसी प्रवृत्ति को समझ कर फानो ने ज्याँ-पाल सार्त्र की आलोचना की थी। यहाँ तक कि खुद मार्क्स में भी सईद ने यह रुझान देखा है। लेकिन ब्रायन एस. टर्नर ने

सईद की मार्क्स के बारे में इस धारणा को चुनौती दी है। इसी तरह इरफान हबीब ने भी प्रतिनिधित्व के सवाल को उसके ऐतिहासिक संदर्भ में देखने का आग्रह करते हुए सईद द्वारा इसे मार्क्स के एक बुनियादी वक्तव्य के रूप में मानने की आलोचना की है। हाल ही में माधव प्रसाद ने भी फ्रेड्रिक जेमसन को इसी वजह से आड़े हाथों लिया है।

मनोविश्लेषण की युक्तियों का असर फानो, होमी भाभा, ट्रिन्ह टी मिन्ह हा और रे चाउ पर देखा जा सकता है। सत्ता और प्रतिरोध के प्रयोजनमूलक मार्क्सवादी आख्यानो की सहजता से परे जाने में मनोविश्लेषण की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। मनोविश्लेषण की मदद लेने वालों की मान्यता है कि भाषा के दायरे में अस्मिताएँ कामना और भावनागत निवेश के संदर्भों में रची जाती हैं, लेकिन रचे जाने के बावजूद वे स्थावर और प्रदत्त नहीं होतीं, बल्कि लगातार एक तरह के प्रदर्शन और मंचन की प्रक्रिया से गुज़रती रहती हैं। भाभा ने फ्रॉयड और लकाँ के प्रतिपादनों से प्रेरणा ग्रहण करके दिखाया है कि किस तरह उत्तर-औपनिवेशिक कर्ता किसी एक चेतना में स्थिर नहीं रहता। तीसरी दुनिया के नारीवादियों ने मनोवैश्लेषिक युक्तियों के इस्तेमाल को सकारात्मक दृष्टि से देखा है, पर वे उन तमाम जगहों पर उँगली भी रखती हैं जहाँ-जहाँ फानो जैसे सिद्धांतकार भी जेंडर , सेक्शुअलिटी और यौनिक रुझानों की शिनाख्त कर पाने में असमर्थ रहते हैं।

देरिदा द्वारा प्रतिपादित विखण्डन की युक्तियों का इस्तेमाल करके उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतकारों ने पश्चिम प्रदत्त सार्वभौम मानववाद और औपनिवेशिक विमर्श की आलोचना की है। यह प्रभाव स्पिवाक और अनुवाद

की सिद्धांतकार तेजस्विनी निरंजना की रचनाओं पर देखा जा सकता है। स्पिवाक की मान्यता है कि विखण्डन किसी भी पाठ का तात्पर्य-निरूपण करने की एक ऐसी रणनीति है जिसके ज़रिये पाठक उन्हीं वैचारिक संरचनाओं में अपनी छिपी हुई भागीदारी के प्रति सचेत हो सकता है जो उसके लिए आलोच्य हैं।

राज्य (State)

राज्य आधुनिक विश्व की अनिवार्य सच्चाई है। दुनिया के अधिकांश लोग किसी-न-किसी राज्य के नागरिक हैं। जो लोग किसी राज्य के नागरिक नहीं हैं, उनके लिए वर्तमान विश्व व्यवस्था में अपना अस्तित्व बचाये रखना काफी कठिन है। असल में, राज्य शब्द का उपयोग तीन अलग-अलग तरीके से किया जा सकता है। पहला, इसे एक ऐतिहासिक सत्ता माना जा सकता है; दूसरा इसे एक दार्शनिक विचार अर्थात् मानवीय समाज के स्थाई रूप के तौर पर देखा जा सकता है; और तीसरा, इसे एक आधुनिक परिघटना के रूप में देखा जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि इन सभी अर्थों का एक-दूसरे से टकराव ही हो। असल में, इनके बीच का अंतर सावधानी से समझने की आवश्यकता है। वैचारिक स्तर पर राज्य को मार्क्सवाद, नारीवाद और अराजकतावाद आदि से चुनौती मिली है। लेकिन अभी राज्य से परे किसी अन्य मज़बूत इकाई की खोज नहीं हो पायी है। राज्य अभी भी प्रासंगिक है और दिनों-दिन मज़बूत होता जा रहा है।

कई राजनीतिक दार्शनिकों की मान्यता है कि सबसे पहले निकोलो मैकियावेली के लेखन में आधुनिक अर्थों में राज्य के प्रयोग को देखा जा

सकता है। 1532 में प्रकाशित अपनी विख्यात रचना द प्रिंस में उन्होंने स्टेटो (या राज्य) शब्द का प्रयोग भू-क्षेत्रीय सम्प्रभु सरकार का वर्णन करने के लिए किया। मैकियावेली की एक अन्य रचना द डिस्कोर्सिज़ की विषय-वस्तु अलग है, लेकिन बुनियादी वैचारिक आधार उसका भी द प्रिंस जैसा ही है। मैकियावेली के अनुसार राजशाही में केवल प्रिंस ही स्वाधीन है, पर गणराज्य में हर व्यक्ति प्रिंस है। उसे अपनी सुरक्षा, स्वतंत्रता और सम्पत्ति बचाने के लिए वैसे ही कौशल अपनाने का अधिकार है। मैकियावेली के अनुसार गणराज्य में प्रिंस जैसी खूबियों को सामूहिक रूप से विकसित करने की ज़रूरत है, और ये खूबियाँ मित्रता और परोपकार जैसे पारम्परिक सद्गुणों के आधार पर नहीं विकसित हो सकतीं। गणराज्य में हर व्यक्ति नाम और नामा हासिल करने के मकसद से दूसरे के साथ खुले मंच पर सहयोग करेगा। मैकियावेली मानते थे कि राजशाही के मुकाबले गणराज्य अधिक नफासत से काम कर सकेगा, उसमें प्रतिरक्षा की अधिक क्षमता होगी और वह युद्ध के ज़रिये अपनी सीमाओं का अधिक कुशलता से विस्तार कर सकेगा। मैकियावेली के अनुसार यह सब करने की प्रक्रिया में ही शक्तिशाली, अदम्य और आत्म-निर्भर व्यक्तियों की रचना हो सकेगी।

ऐसे गणराज्यों को निरंकुशता में बदलने से कैसे रोका जा सकेगा? मैकियावेली इसके लिए दो शर्तें पेश करते हैं : हर गणराज्य को टिके रहने के लिए ऐसा प्रबंध करना होगा जिसमें हर व्यक्ति दूसरे के साथ सृजनात्मक ढंग से होड़कर सके, किसी एक व्यक्ति को इतनी शक्ति अर्जित करने से रोकना होगा कि वह दूसरों पर प्रभुत्व जमा सके। उच्च- कुलीन अभिजनों या

व्यापारिक प्रभुवर्ग और आम जनता के बीच प्रभुत्व को लेकर संघर्ष होता रहेगा जिनके गर्भ से गणराज्य को नयी ऊर्जा मिलेगी और अच्छे कानूनों का जन्म होगा, बशर्ते बेहतर राजनीतिक संस्थाओं के ज़रिये उन संघर्षों को काबू में रखा जा सके। कानून ऐसे होने चाहिए जिनकी जानकारी लोगों के सामने साफ कर सके कि गणराज्य में वे क्या-क्या बेखटके कर सकते हैं, और क्या करने पर उन्हें दण्ड भोगना होगा। आर्थिक समृद्धि की इजाज़त होनी चाहिए, पर निजी स्तर पर अत्यधिक सम्पत्ति अर्जित करने पर कानूनन रोक होनी चाहिए। नागरिक गुणों के विकास के लिए राज्य का एक धर्म होना चाहिए, पर मैकियावेली ईसाई धर्म को यह हैसियत देने के लिए तैयार नहीं थे। फ्लोरेन्स की प्रतिरक्षा करने के अपने अनुभव के आधार पर मैकियावेली ने निष्कर्ष निकाला था कि गणराज्य को आक्रमणों से बचाने के लिए नागरिकों की सेना होना चाहिए।

केंटिन स्किनर मानते हैं कि मैकियावेली ने जब राज्य की चर्चा की तो वे एक प्रिंस के राज्य की बात कर रहे थे। वह उस अर्थ में निर्वैयक्तिक नहीं था, जिस अर्थ में आज इसका प्रयोग किया जाता है। यूरोपीय आधुनिकता के शुरुआती दौर में चर्च और राजा दोनों के पास ही राजनीतिक शक्ति होती थी और दोनों के पास अपनी-अपनी सेनाएँ भी होती थीं। इससे चर्च और राजा के बीच युद्ध की भी सम्भावना बनी रहती थी। 1648 में तीस वर्षीय युद्ध के बाद वेस्टफेलिया की संधि हुई। इसने चर्च की शक्ति कम की और राजा को उसके अपने क्षेत्र में प्राधिकार दिया। इसने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्प्रभु राज्यों के अस्तित्व को स्वीकार किया।

दार्शनिक स्तर पर समाज के लिए राज्य की अनिवार्यता स्थापित करने का श्रेय सत्रहवीं सदी के विचारक थॉमस हॉब्स और उनकी रचना लेवायथन को जाता है। इस पुस्तक के पहले संस्करण के आवरण पर एक दैत्याकार मुकुटधारी व्यक्ति का चित्र उकेरा गया था जिसकी आकृति छोटी-छोटी मानवीय उँगलियों से बनी थी। इस दैत्याकार व्यक्ति के एक हाथ में तलवार थी, और दूसरे में राजदण्ड। दरअसल, हॉब्स इस भौतिकवादी और आनंदवादी विचार के प्रतिपादक थे कि मनुष्य का उद्देश्य अधिकतम आनंद और कम से कम पीड़ा भोगना है। अगर दूसरे के आनंद में मनुष्य को सुख मिल सकता है, तो हॉब्स के अनुसार वह परोपकार के लिए भी सक्षम है। लेकिन, अगर संसाधन कम हुए या किसी किस्म का भय हुआ, तो मनुष्य आत्मकेंद्रित और तात्कालिक आग्रहों के अधीन हो कर परोपकार को मुलतवी कर देगा। ऐसी स्थिति में उसे अपने ऊपर किसी सरकार का नियंत्रण चाहिए, वरना वह अपने सुख को अधिकतम और दुःख को न्यूनतम करने का अबाध प्रयास करते हुए सभ्यता और संस्कृति से हीन प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जायेगा। जो कुछ उसके पास है, उसे खोने के डर से मनुष्य शक्ति के एक मुकाम से दूसरे मुकाम तक पहुँचने की कोशिशों में लगा रहेगा जिसका अंत केवल उसकी मृत्यु से ही हो सकेगा। अगर मज़बूत राज्य ने उसकी इन कोशिशों को संयमित न किया तो मानव जाति प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जायेगी जहाँ हर व्यक्ति दूसरे के दुश्मन के रूप में परस्पर विनाशकारी गतिविधियों में लगा होगा। मनुष्य को नियंत्रित करने वाला यही परम शक्तिशाली और सर्वव्यापी राज्य हॉब्स के शब्दों में लेवायथन है। हॉब्स को कोई शक नहीं था कि अगर यह दैत्याकार हस्ती लेवायथन मनुष्य को

शासित नहीं करेगी तो वह शांति और व्यवस्था हासिल करने के तर्कसंगत निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। उस सूरत में मनुष्य एक-दूसरे को हानि न पहुँचाने के परस्पर अनुबंध पर भी नहीं पहुँच पायेगा। तर्कों की यह शृंखला हॉब्स को दिखाती है कि मनुष्य एक सामाजिक समझौते के तहत एक समाज रचता है जिसमें हर कोई अपना हित साधना चाहता है और इसीलिए दूसरों से करार करता है कि वह किसी दूसरे के हित पर चोट नहीं करेगा बशर्ते बदले में उसके हित पर चोट न की जाए। हॉब्स का विचार था कि इस समझौते का उल्लंघन न हो, इसलिए एक सम्प्रभु सत्ता की ज़रूरत पड़ेगी ताकि सार्वजनिक शांति और सुरक्षा की गारंटी की जा सके। यह सम्प्रभु केवल ताकत के डर से ही अपनी सत्ता लागू नहीं करेगा। हॉब्स ने लेवायथन के दूसरे अध्याय 'ऑफ द कॉमनवेल्थ' में कई तरह के सम्भव संवैधानिक रूपों की चर्चा की है। लेकिन, सिद्धांततः हॉब्स अविभाजित सत्ता के पक्ष में नज़र आते हैं। इसके लिए उन्हें राजशाहीनुमा सत्ता की वकालत करने में भी कोई हर्ज नहीं लगता।

हॉब्स की निगाह में यह सम्प्रभु निरंकुश नहीं होगा क्योंकि स्वयं को कायम रखने लायक परिस्थितियाँ सुनिश्चित करने के लिए उसे अपनी प्रजा को एक हद तक (आंतरिक खतरे और बाह्य अशांति से उसे सुरक्षित रखने के उद्देश्यों के मुताबिक) आज़ादी भी देनी होगी। भौतिक जिंसों और समृद्धि का वितरण इस तरह सुनिश्चित करना होगा जिससे उस टकराव के अंदशे हमेशा ठण्डे होते रहें जो परस्पर लेन- देन की प्रक्रिया से अक्सर पैदा होता रहता है। हॉब्स का खयाल था कि धर्म निजी मामला है, पर उसके सार्वजनिक पहलुओं को

पूरी तरह राज्य के मुखिया के फैसले पर छोड़ देना चाहिए। राज्य का मुखिया ही चर्च का मुखिया होना चाहिए। बाइबिल जिन मामलों में स्पष्ट निर्देश नहीं देती, वहाँ राज्य के मुखिया का निर्देश अंतिम समझा जाना चाहिए।

अपने इन्हीं विचारों के कारण हॉब्स ने कैथोलिक चर्च को अंधकार के साम्राज्य की संज्ञा दी, क्योंकि वह अपने अनुयायियों से राज्य के प्रति वफादारी से भी परे जाने वाली वफादारियों की माँग करता है। उन्होंने शुद्धतावादियों के खिलाफ आवाज़ उठायी जो अंतःकरण के आधार पर राज्य के खिलाफ खड़े होने की अपील करते थे। हॉब्स का मतलब साफ था कि अगर शांति-व्यवस्था के साथ रहना है तो राजकीय प्राधिकार के उल्लंघन से बाज़ आना होगा। ज़रूरी नहीं कि राज्य की सम्प्रभुता का प्रतीक कोई व्यक्ति ही हो। वह किसी सभा और किसी संसद की सम्प्रभुता भी हो सकती है। इस लिहाज़ से हॉब्स के सिद्धांत में संसदीय सम्प्रभुता के लिए भी गुंजाइश है।

हॉब्स द्वारा पेश किये गये राज्य संबंधी सिद्धांत ने बाद के यूरोपीय चिंतकों को प्रभावित करना जारी रखा। इस प्रक्रिया में एक सामान्य समझ उभरी जिसके मुताबिक राज्य राजनीतिक संस्थाओं का एक ऐसा समुच्चय माना गया जो एक निश्चित सीमाबद्ध भू-क्षेत्र में मुश्तरका हितों के नाम पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। यह परिभाषा मैक्स वेबर की उस व्याख्या से बहुत प्रभावित है जो उन्होंने अपनी रचना 'दि प्रोफेशन ऐंड वोकेशन ऑफ पॉलिटिक्स' में पेश की थी। इसमें वेबर ने आधुनिक राज्य के तीन पहलू बताये थे : उसकी भू-क्षेत्रीयता, हिंसा करने का उसका अधिकार और वैधता। वेबर का तर्क था कि अगर किसी सुनिश्चित भू-भाग में रहने वाले समाज में कोई

संस्था हिंसा का डर दिखा कर लोगों से किन्हीं नियम-कानूनों का पालन नहीं करायेगी तो अराजकता फैल जाएगी। वेबर ने इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश भी की है कि आखिर लोग राज्य की बात क्यों मानते हैं? क्या केवल हिंसा के दम पर? या आज्ञापालन का कोई तर्क भी होता है? वेबर का जवाब यह है कि हिंसा का डर दिखाने के साथ-साथ राज्य अपने प्रभुत्व को वैध साबित करने की कवायद भी करता है ताकि आज्ञापालन का अहिंसक औचित्य प्रमाणित किया जा सके।

राज्य की संस्था लोगों से कैसे अपनी बात मनवाती है— इस समझ में सबसे ताज़ा और विचारोत्तेजक विकास मिशेल फूको ने किया है। पूँजीपति वर्ग राज्य में अपनी सामाजिक सत्ता केवल हिंसा के उपकरणों (फौज, पुलिस वगैरह) के ज़रिये ही स्थापित नहीं करता। वह तरह-तरह के सांस्कृतिक रूपों का इस्तेमाल करके भी अपनी सामाजिक सत्ता की निरंतरता सुनिश्चित करता है। इसलिए राज्य की संरचनाओं को उनके सांस्कृतिक रूपों में समझना भी आवश्यक है। आखिरकार राज्य के पक्ष में सहमति पैदा करने की ज़िम्मेदारी ये सांस्कृतिक संरचनाएँ ही निभाती हैं।

फूको बताते हैं कि आधुनिक समाज में लोगों को नियंत्रित या अनुशासित करने के लिए निगरानी की एक बहुस्तरीय व्यवस्था के अलावा दूसरों द्वारा किये गये फैसलों को आत्मसात् करने तथा परीक्षा प्रणाली जैसे उपाय अपनाये जाते हैं। फूको ज़ोर देकर कहते हैं कि लोगों पर नज़र रखने मात्र से सत्ता का आधा काम पूरा हो जाता है। इसके लिए वे स्टेडियम की व्यवस्था का हवाला देते हैं जिसमें सीटों की व्यवस्था इस तरह की जाती है कि दर्शक

किसी कार्यक्रम को आसानी से देख पाएँ पर साथ ही यह व्यवस्था सत्ता के नियंत्रकों को दर्शकों पर निगाह रखने की सहूलियत भी प्रदान करती है। यहाँ फूको अनुशासन और नियंत्रण की सत्ता का मॉडल चिह्नित करने के लिए राजनीतिक चिंतक जेरेमी बैंथम द्वारा कल्पित जेल का उल्लेख भी करते हैं। जिसकी मूल वास्तु-योजना कुछ ऐसी थी कि कोठरियों में बंद कैदी एक दूसरे के लिए तो अदृश्य रहें लेकिन जेल के केंद्रीय टॉवर की निगरानी से बाहर न हो पाएँ। कैदियों को कभी इस बात का पता नहीं चलता कि उन पर निगाह रखी जा रही है या नहीं पर उनके जेहन में यह बात बैठ जाती है कि कोई उन पर नज़र रखता है। फूको पैनाॅटिकन के सिद्धांत को एक ऐसे रूपक की तरह देखते हैं जो जेल की चौहद्दी के पार जाकर स्कूलों, फैक्ट्रियों और अस्पतालों में अनुशासन का आम ढर्रा बन जाता है। हालाँकि बैंथम की यह प्रस्तावित जेल कभी मूर्त रूप नहीं ले पायी लेकिन एक सिद्धांत के रूप में वह आधुनिक समाज की लगभग हर गतिविधि पर काबिज़ हो गयी है। आधुनिक समाज में अनुशासन कायम करने वाली व्यवस्थाओं के लिए वह एक ऐसा औज़ार सिद्ध हुई है जिसने प्राक-आधुनिक काल के राजाओं और हाकिमों को अपदस्थ कर उनकी जगह खुद को स्थापित कर लिया है।

इस क्रम में फूको यह भी दर्शाते हैं कि आधुनिक सत्ता या अनुशासन कायम करने वाली व्यवस्था सिर्फ लोगों की गतिविधियों पर ही नज़र नहीं रखती बल्कि वह लोगों को उनकी अक्षमता दिखाकर भी नियंत्रित करती है। उनके अनुसार आधुनिक सत्ता समझ, प्रतिभा, सामान्य और असामान्य व्यवहार जैसी कोटियों का निर्माण करती है और जब कोई व्यक्ति इसके द्वारा स्थापित

कसौटियों या मानकों पर खरा नहीं उतरता तो व्यवस्था ऐसे व्यक्ति को कमतर या असामान्य घोषित करने का मौका नहीं चूकती। इस संदर्भ में फूको यह याद दिलाना नहीं भूलते कि आधुनिक समाज की इन अनुशासनकारी संस्थाओं का यह रवैया किसी तरह के प्रतिशोध से नहीं बल्कि सुधार से प्रेरित होता है। जिसका अंतिम लक्ष्य यह होता है कि व्यक्ति समाज की प्रदत्त कसौटियों या मानकों को स्वीकार कर ले। गौर करें कि समाज की मान्यताओं के ज़रिये अनुशासन कायम करने का यह ढंग न्यायिक दण्ड की उस व्यवस्था से खासा अलग है जिसमें किसी व्यक्ति को सिर्फ इस आधार पर दण्डित किया जाता था कि उसका कृत्य कानून सम्मत है या नहीं। ऐसे किसी फैसले में यह नहीं कहा जाता था कि व्यक्ति सामान्य है या असामान्य। लेकिन आधुनिक समाज शैक्षिक कार्यक्रमों, चिकित्सा के तौर-तरीकों तथा उद्योग व उत्पादों के मामलों में कुछ निश्चित मानक स्थापित करने पर ज़ोर देता है और इन मानकों का वर्चस्व इतना चौतरफा होता है कि व्यक्ति का व्यवहार और व्यक्तित्व उन्हीं के हिसाब से ढलने लगता है।

सामान्यतः राज्य को शासन, संगठन या राजनीतिक समुदाय के तौर पर देखा जाता है। माना जाता है कि इतिहास के हर दौर में इसके विविध रूप मौजूद रहे हैं। इसमें होने वाले बदलाव इतिहास के प्रमुख विषय रहे हैं। सिर्फ आदिम घुमंतू राजनीतिक समुदायों को राज्य का दर्ज नहीं दिया जाता है। माना जाता है कि इन समुदायों में इस अवधारणा के साथ-साथ उससे जुड़ी सुनिश्चित व्यवस्था का अभाव होता है। असल में राज्य होने के लिए यह आवश्यक है कि समुदाय और भू-क्षेत्र के बीच तकरीबन स्थाई संबंध हो। इस

सामान्य तरीके से उपयोग किये जाने पर यह शब्द इस विचार को अभिव्यक्त करता है कि राजनीतिक समुदाय की कुछ ऐसी निश्चित सार्वभौमिक विशेषताएँ होती हैं, जो समय और स्थान (या स्पेस) से परे होती हैं; अर्थात् ग्रीक पोलिस, मध्ययुगीन रेगनम और आधुनिक गणतंत्रों के बीच कुछ सामान्य विशेषता हैं। क्या इस गुण या विशेषता को ज़्यादा संकुचित रूप में परिभाषित किया जा सकता है?

यह बात तो स्पष्ट है कि यदि राज्य की कोई परिभाषा इसे शाश्वत और अपरिवर्तनशील वस्तु या संगठन के रूप में पेश करती है, तो ऐसा करके वह इतिहास में बदलाव और विकास की प्रक्रिया की उपेक्षा करती है। इसलिए एक वैध परिभाषा को दूसरे पहलुओं और कार्यों पर ध्यान देना चाहिए। इतिहास यह दिखाता है कि एक सार्वभौमिक परिघटना के रूप में राज्य एक ऐसी गतिविधि या संगठन है, जो मनुष्य पर आवश्यकताओं के रूप में थोपी गयी है। इस तरह की गतिविधि के रूप में इसकी कुछ मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं : यह मनुष्यों और उनकी सम्पत्ति के बीच में एक निश्चित संबंध बनाता है; या दूसरे शब्दों में यह मनुष्यों के बीच एकता या समाज का निर्माण करता है। इसलिए राज्य का अस्तित्व विशिष्ट तौर पर एक बुनियादी चीज़ है। दूसरा, यह मनुष्यों के बीच व्यवस्था की शक्ति, या शासन के एक रूप या आदेश और आज्ञा पालन का एक संबंध स्वीकार करता है। तीसरा, राज्य को बनाने और कायम रखने वाली गतिविधि विशिष्ट होती है, जो हमेशा खुद को उन लोगों के खिलाफ पेश करती है, जो इस समुदाय का भाग नहीं होते हैं।

बहरहाल, राज्य को एक ऐतिहासिक परिघटना के रूप में देखने के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि इस पर होने वाले लेखन में एक दार्शनिक पहलू हमेशा शामिल रहा है। इसके तहत प्रश्न उठता है कि राज्य जिस तरह की व्यवस्था या लोगों के बीच संबंध स्थापित करना चाहता है, उसका आदर्श रूप क्या है? क्या वह आदर्श रूप हासिल कर लिया गया है? क्या शासन का वर्तमान तरीका सही है? क्या समुदाय के बाहरी संबंधों को सही तरीके से संचालित किया जा रहा है? असल में, इस नज़रिये से विचार करने पर राज्य सिर्फ मनुष्यों पर थोपी गयी आवश्यकता के रूप में ही सामने नहीं आता है, बल्कि यह मनुष्यों के सामने 'सही' के चुनाव की समस्या के रूप में भी सामने आता है। राज्य में सिर्फ अराजकता की जगह एक व्यवस्था स्थापित करने का ही संघर्ष नहीं है। इसकी बजाय, यह एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करने का भी संघर्ष है, जो सच्ची, प्रामाणिक और न्यायपूर्ण हो। इसलिए, प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स, हीगेल आदि के लेखन को इस सवाल का दार्शनिक उत्तर खोजने की कोशिश के रूप में देखा जा सकता है कि राज्य कैसा होना चाहिए। इन विद्वानों ने राज्य और दूसरे तरह के मानव-संगठनों के बीच अंतर करने की कोशिश की है और इसके साथ ही इन्होंने अपने आदर्श राज्य की परिकल्पना और उसके पक्ष में तर्क भी प्रस्तुत किये हैं।

सार्वभौम ऐतिहासिक परिघटना के रूप में राज्य और एक दार्शनिक अवधारणा के रूप में राज्य को देखने के विचार के साथ राज्य को विशेष रूप से आधुनिक परिघटना मानने के विचार को भी जोड़ने की आवश्यकता

है। ऐसे बहुत से इतिहासकार और राजनीतिक सिद्घांतकार हैं, जो यह तर्क देते हैं कि 'राज्य' शब्द का उपयोग यूरोप में पुनर्जागरण और धर्म-सुधार के बाद सामने आयी व्यवस्था के लिए किया जाना चाहिए। इनका यह मानना है कि राज्य का सिद्घांत दरअसल इसी विशिष्ट परिघटना से जुड़ा हुआ सिद्घांत है। इसलिए यदि इसका प्रयोग इतिहास के दूसरे दौर में मौजूद संगठनों के लिए किया जाता है, तो इससे इसके अर्थ के बारे में भ्रम बढ़ेगा। एक संगठित व्यवस्था के रूप में राज्य शब्द का उदय भी चौदहवीं सदी के अंत और सत्रहवीं सदी के बीच हुआ। राज्य का अंग्रेज़ी शब्द 'स्टेट' लैटिन शब्द 'स्टेयर' से निकला है, जिसका अर्थ है खड़ा होना। इस तरह यह एक स्थिति के बारे में बताता है। राज्य को एक आधुनिक अवधारणा मानने के पीछे एक मुख्य विचार यह भी है कि आधुनिक राज्य का उभार प्रभुसत्ता की अवधारणा के साथ हुआ। यह एक स्पष्ट आधुनिक मान्यता है कि जो राज्य प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं है, वह सही अर्थों में राज्य ही नहीं है। प्रभुसत्ता का अर्थ यह है कि राज्य अपने अधिकार में आने वाले भू-क्षेत्र में राजनीतिक प्राधिकार का सर्वोच्च स्रोत है। प्रभुसत्ता के दो पहलू हैं- आंतरिक पहलू और बाहरी पहलू। आंतरिक पहलू का अर्थ है कि राज्य की सीमाओं के भीतर राज्य से ऊँचा कोई भी प्राधिकारी नहीं है। राज्य सर्वोच्च है और नागरिक राज्य के खिलाफ किसी अन्य प्राधिकारी से अपील नहीं कर सकता है। बाहरी प्रभुसत्ता का अर्थ है- किसी विशिष्ट राज्य को दूसरे राज्यों द्वारा दी जाने वाली मान्यता। साथ ही, इसमें यह भी स्वीकार किया जाता है कि कोई राज्य अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अपने नागरिकों की ओर से बोल सकता है। यह

अधिकार अंतर्राष्ट्रीय दायरे में राज्य की स्वायत्तता और प्रभुसत्ता को व्यक्त करता है।

राज्य को एक आधुनिक परिघटना मानने का मतलब यह नहीं है कि इसे एक ऐतिहासिक सत्ता या दार्शनिक विचार के रूप में भी खारिज कर दिया जाये। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आधुनिक राज्य की कोई भी विशेषता इतिहास के पहले के दौर में मौजूद नहीं थी। असल में, आधुनिक दौर के पहले के 'राज्य' और आधुनिक दौर के साथ सामने आये 'राज्य' की कई विशेषताएँ समान हैं। इसी तरह, यह नहीं कहा जा सकता कि एक दार्शनिक विचार के रूप में राज्य आधुनिक राज्य की 'पूर्ण अवधारणा' का प्रतिनिधित्व करता है। असल में दार्शनिक रूप से राज्य की अवधारणा अलग-अलग तरीकों से कल्पित और विवेचित की जाती रही है। मसलन, उदारतावादियों ने राज्यों को एक 'तटस्थ' संस्था के रूप में देखा, लेकिन राज्य की भूमिका के बारे में उदारतावाद के भीतर गम्भीर और विविध चर्चा होती रही है। मार्क्सवाद के भीतर भी राज्य को लेकर वाद-विवाद की समृद्ध परम्परा रही है। इसमें राज्य को पूँजीपति वर्गों का साधन मानने के साथ ही 'राज्य की सापेक्षिक स्वायत्तता' से जुड़ा वाद-विवाद भी शामिल रहा है। अराजकतावादियों ने राज्य को एक अप्राकृतिक सत्ता मानते हुए इसे पूरी तरह खत्म करने की वकालत की है। मार्क्स-एंगेल्स के लेखन में भी एक ऐसी साम्यवादी स्थिति की कल्पना की गयी है, जिसमें राज्य पूरी तरह खत्म हो जायेगा। लेकिन अराजकतावादी ऐसी किसी स्थिति का इंतज़ार करने की बजाय राज्य को जल्द-से-जल्द खत्म करना चाहते हैं। इनका मानना है कि

राज्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति के खिलाफ हिंसा पर आधारित है। दूसरी ओर, अनुदारतावादी राज्य की तरफदारी इसलिए करते हैं ताकि वह कई पीढ़ियों से संचित परम्पराओं और मूल्यों का संरक्षण कर पाये। नारीवादियों के भीतर की विभिन्न धाराओं में राज्य के बारे में अलग-अलग तरह से विचार किया गया है। उदाहरण के तौर पर, उदारतावादी-नारीवाद यह मानता है कि एक संस्था के रूप में राज्य पुरुष वर्चस्व की ओर झुका हुआ है, लेकिन कानून बनाकर राज्य की इस प्रवृत्ति में सुधार किया जा सकता है और इसका उपयोग पुरुष-महिला समानता स्थापित करने के लिए किया जा सकता है। दूसरी ओर, समाजवादी-नारीवाद राज्य के पूँजीवादी चरित्र को महिलाओं की समस्या का मुख्य कारण मानता है। इसकी मान्यता है कि पूँजीवादी राज्य खत्म करने से ही स्त्रियों की स्थिति में सुधार हो सकता है। तीसरा, रैडिकल नारीवादी विचार के मुताबिक राज्य पितृसत्ता पर आधारित परिवार और उसके द्वारा आगे बढ़ाये जाने वाले मूल्यों की हिफाज़त का काम करता है। इसलिए पितृसत्ता को पूरी तरह खत्म करने के लिए आवश्यक है कि राज्य को भी खत्म किया जाए।

स्पष्ट तौर पर, राज्य, इसकी प्रकृति और भूमिका के बारे में बहुत विविध और गहन वाद-विवाद है। हाल के दौर में यूरोपीय यूनियन जैसी संरचनाओं के उभार के कारण यह तर्क दिया गया है कि राज्य धीरे-धीरे अप्रासंगिक हो रहा है। लेकिन यह तर्क बहुत मज़बूत नहीं है। यह सच है कि यूरोपीय यूनियन में शामिल देशों ने एक मज़बूत क्षेत्रीय संगठन को बनाने के लिए अपनी सहमति दी है। फिर भी, वे एक राष्ट्र-राज्य के रूप में अपनी-अपनी पहचान खत्म नहीं

करना चाहते हैं। दूसरे कई क्षेत्रीय संगठनों ने भी क्षेत्र के देशों के बीच सहयोग बढ़ाया है, लेकिन इस बात की कोई सम्भावना नज़र नहीं आती है कि वे राष्ट्र-राज्य का विकल्प साबित होंगे। समकालीन दुनिया में राज्य एक ऐसी हकीकत है, जिसके खत्म होने का कोई आसार नहीं है। वैचारिक रूप से इसका विरोध करने वाले कई विचारधाराओं के अनुयायी व्यावहारिक मौका मिलने पर भी राज्य की संस्था को खत्म कर पाने में नाकाम रहे हैं।

वैधता (Legitimacy)

वैधता वह गुण है जिसके आधार पर सत्ता की संरचनाएँ लोगों की निगाह में न्यायसंगत प्राधिकार का रूप ले लेती हैं। वैधता के ज़रिये किसी सरकार, कानून, प्रथा या सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम को वह बाध्यकारी शक्ति मिलती है जिसके कारण उसका अनुपालन डर के बजाय एक तरह के कर्तव्य के तहत किया जाता है। वैधता का अर्थ कानूनी वैधता से भी जुड़ा है, और जन-वैधता या सामाजिक वैधता से भी। यहाँ लीगलिटी और लेजिटिमिटी का फर्क साफ करना ज़रूरी है। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जब कानूनी वैधता और जन-वैधता एक-दूसरे के खिलाफ खड़ी हो जाती हैं। मसलन, सती प्रथा निर्विवाद रूप से कानूनन अवैध है। लेकिन, क्या जन-वैधता भी यही कहती है? समाज का रवैया इस प्रथा के प्रति मिला- जुला है। उसके कुछ हिस्से कानूनी वैधता को सही ठहराते हुए सती प्रथा के खिलाफ हैं, पर कुछ हिस्से ऐसे भी हैं जो सती को आज भी आदर की दृष्टि से देखते हैं। इसका मतलब यह निकलता है कि कानूनी वैधता (वैधानिकता) अपने आप में सम्पूर्ण वैधता की गारंटी नहीं देती। हाँ, यह ज़रूर कहा जा सकता है

कि किसी मुद्दे पर कानूनी वैधता उसके प्रति जन-वैधता विकसित होने का रास्ता खोल देती है। वैधता की अवधारण में इस जगह एक दिलचस्प अंतर्विरोध उभर कर आता है। ऐसी बहुत सी सरकारें हुई हैं और होती हैं जिनकी राजनीतिक सफलता ने उनके लिए बहुत बड़े पैमाने पर जन-वैधता की रचना की। उन्होंने अपनी जन-वैधता को वैधानिकता का जामा भी पहना दिया था। लेकिन, विश्व-जनमत का बड़ा हिस्सा उनकी इस जन-वैधता को एक सम्पूर्ण वैधता के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। फासीवादी सरकारें और कम्युनिस्ट सरकारें अपने युग की बेहद लोकप्रिय हुकूमतें थीं। पर उनमें वैधता के उन गुणों का अभाव था जो उदारतावादी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में दिखाई देते हैं।

कई बार वैधता और प्राधिकार का प्रयोग कुछ इस तरह से होता है कि जैसे दोनों अभिव्यक्तियाँ पर्यायवाची हों। व्यक्तियों के संदर्भ में प्राधिकार का और राजनीतिक व्यवस्था के संदर्भ में वैधता के प्रश्न उठाये जाते हैं। भले ही दोनों के बीच सामान्यतः ज़रूरी अंतर न किया जाता हो, लेकिन विचार-श्रेणियों के प्रति सतर्क लोग इस तरह के फर्क के प्रति लापरवाह नहीं रह सकते। इसीलिए राजनीतिक सिद्धांत की दुनिया ने इस प्रश्न पर काफी विचार किया है कि किसी सरकार को किन आधारों पर वैध कहा जा सकता है। क्या केवल निर्वाचित बहुमत के आधार पर गठित सरकार वैधता सम्पन्न कही जा सकती है? वैधानिकता की दृष्टि से यह बात सही हो सकती है। पर, भारतीय लोकतंत्र का अनुभव बताता है कि भारी बहुमत से चुनी हुई सरकारें भी दो-तीन साल बाद अपनी जन-वैधता खोने लगती हैं, और अगले चुनाव से काफी पहले ही

लगने लगता है कि वे दोबारा सत्ता में वापिस नहीं आएँगी। राजनीतिक प्रेक्षकों के अनुसार आम तौर पर पहले छह महीनों से साल भर तक तो जनता और विपक्ष की तरफ से बिना किसी आपत्ति के सरकार को अपना काम करने दिया जाता है। यह 'हनीमून पीरियड' कहलाता है। पर, इसके बाद जनता के असंतोष और विपक्ष के सरकार विरोधी गतिविधियों का दौर शुरू हो जाता है। सरकार की वैधानिकता बनी रहती है (क्योंकि उसे संविधान के प्रावधानों के अनुसार पाँच साल के लिए चुना गया है), पर उसकी वैधता का क्षय शुरू हो जाता है। अपनी वैधता खो चुकी सरकार डराने- धमकाने, डंडेबाज़ी और हिंसा के ज़रिये ही टिकी रह सकती है। ऐसी सरकार ऊपर से कितनी भी दमनकारी हो, पर वास्तव में वह कमज़ोर होती है। इसीलिए द सोशल कांट्रैक्ट (1762) में रूसो ने कहा था कि कोई कितना भी ताकतवर क्यों न हो, उसके हाथ में स्वामित्व तभी रह सकता है जब उसकी शक्ति को लोग उसका अधिकार मानें और उसकी आज्ञा के पालन को अपना कर्तव्य। जो सरकार इस कसौटी पर खरी नहीं उतर पाती वह सत्तारूढ़ होते हुए भी अपनी वैधता खो देती है।

मैक्स वेबर के अनुसार अगर लोग किसी निज़ाम का हुक्म मानने के लिए तैयार हैं अर्थात् उन्हें उसकी 'वैधता में आस्था' है, तो उस हुक्मत को वैध कहा जाना चाहिए। भले ही वह निज़ाम किसी भी किस्म का हो। लेकिन, अतीत के और आज के बहुत से राजनीतिक दार्शनिक वेबर के इस प्रतिपादन से सहमत नहीं हैं। वे वैधता की दावेदारी को परखने के लिए किसी तर्कसंगत या नैतिक कसौटी का इस्तेमाल करना चाहते हैं। अरस्तू का खयाल

था कि शासक के स्वार्थ के बजाय पूरे समाज के स्वार्थ में काम करने वाली हुकूमत ही वैध मानी जा सकती है। रूसो ने वैधता की परख के लिए 'जन-इच्छा' (जर्नल विल) की थीसिस दी थी। द लेजिटिमेशन ऑफ पावर (1991) में डेविड बीथम ने भी वेबर से अलग विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि महज़ वैधता में आस्था से काम नहीं चल सकता। यह भी देखना होगा कि वह आस्था कैसे पैदा की गयी है। रंग-रुतबे वाले लोग प्रोपेगंडे का नियोजित इस्तेमाल करके यह आस्था लोगों के गले उतार सकते हैं। इस तरकीब को धता बताने के लिए बीथम वैधता की तीन शर्तें प्रतिपादित करते हैं : पहली, सत्ता का प्रयोग स्थापित नियमों के अनुसार ही होना चाहिए, फिर चाहे वे नियम औपचारिक रूप से बनाये गये हों या अनौपचारिक रिवाजों पर आधारित हों। दूसरी, उन नियमों को शासकों और शासितों के साझा विश्वासों के आधार पर न्यायसंगत ठहराना आवश्यक है। तीसरी, वैधता पर शासितों की सहमति की मुहर लगाना बहुत ज़रूरी है।

समाज-विज्ञान में वैधीकरण की प्रक्रिया पर भी काफी बहस हुई है। कुछ प्रेक्षकों का विचार है कि शासन व्यवस्था चाहे किसी भी किस्म की हो, वह अपने नागरिकों की जानकारीयों, आस्थाओं और निष्ठाओं के साथ खेलते हुए अपने पक्ष में वैधता गढ़ने की कोशिश करती ही है। ये प्रेक्षक वैधता को विचारधारात्मक वर्चस्व के आईने में देखते हैं। मुसोलिनी ने इटली में, हिटलर ने जर्मनी में, कम्युनिस्टों ने रूस, चीन और पूर्वी यूरोप में लोकप्रिय सहमति के गर्भ से वैधता प्राप्त करने का रास्ता चुना। बड़े-बड़े जनमत-संग्रहनुमा चुनावों, रैलियों, मार्चों, प्रदर्शनों आदि के माध्यम से इस सहमति का मुज़ाहिरा

किया गया। एक पार्टी और एक उम्मीदवार के आधार पर चुनाव भी आयोजित किये गये। लेकिन, वैधता प्राप्त करने के ये तरीके बहु-पार्टी प्रणाली के तहत होने वाले लोकतांत्रिक चुनावों जैसी वैधता प्राप्त नहीं कर पाये।

वैधता का आधार संवैधानिक होना ज़रूरी है, पर हर तरह के संविधान के भीतर से वैधता नहीं निकलती। मसलन, सोवियत संघ ने 1918, 1924, 1936 और 1977 में चार बार संविधानों को पारित किया। पर उसकी शासन प्रणाली केवल एक सीमित वैधता ही हासिल कर पायी। संविधान बनाने की चार कवायदों में एक बार भी व्यक्तिगत अधिकारों को जगह नहीं दी गयी। न ही कम्युनिस्ट पार्टी की सत्ता पर इजारेदारी को चुनौती देने वाले किसी प्रावधान पर विचार किया गया। महज़ संविधान वैधता की गारंटी नहीं कर सकता, क्योंकि कुछ संविधान अपने आप में ही वैधता के संकट के शिकार होते हैं। इसीलिए बीथम का दावा है कि केवल वही संविधान वैधता प्रदान कर सकता है जो समाज में व्यापक रूप से स्वीकृत मूल्यों और आस्थाओं की नुमाइंदगी करता हो। शासित जनता मानती हो कि उस संविधान के नियम और प्रावधान समुचित और स्वीकारोग्य हैं।

सम्प्रभुता [Sovereignty]

यूरोप में आधुनिक राज्य के उदय के परिणामस्वरूप सत्रहवीं सदी में सम्प्रभुता की अवधारणा का जन्म हुआ। मध्य यूरोप में यूरोपीय राजशाहियों और साम्राज्यों में सत्ता राजा, पोप और सामंतों के बीच बँटी रहती थी। पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी में सामंतवाद के तिरोहित होने और उधर प्रोटेस्टेंट मत के उभार के कारण कैथोलिक चर्च की मान्यता में हास होने से

सम्प्रभु राज्यों को पनपने का मौका मिला। सम्प्रभुता का मतलब है सम्पूर्ण और असीमित सत्ता। लेकिन इसके निहितार्थ इतने सहज नहीं हैं। महज़ इस अर्थ से यह पता नहीं चलता कि आखिर इस सम्पूर्ण सत्ता की संरचना में क्या-क्या शामिल है? क्या इसका मतलब किसी सर्वोच्च वैधानिक प्राधिकार से होता है या फिर इसका संबंध एक ऐसी राजनीतिक सत्ता से है जिसे चुनौती न दी जा सके? सम्प्रभुता के अर्थ संबंधी इसी तरह के विवादों के कारण उन्नीसवीं सदी से ही इसे दो भागों में बाँट कर समझा जाता रहा है: विधिक सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता। इस अवधारणा को व्यावहारिक रूप से आंतरिक सम्प्रभुता और बाह्य सम्प्रभुता के तौर पर भी ग्रहण किया जाता है। सम्प्रभुता के आंतरिक संस्करण का मतलब है राज्य के भीतर होने वाले सत्ता के बँटवारे में यानी राजनीतिक प्रणाली के भीतर सर्वोच्च सत्ता का मुकाम। बाह्य संस्करण का तात्पर्य है अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के तहत राज्य द्वारा एक स्वतंत्र और स्वायत्त वजूद की तरह सक्रिय रह पाने की क्षमता का प्रदर्शन। सम्प्रभुता की अवधारणा आधुनिक राष्ट्र और राष्ट्रवाद के आधार में भी निहित है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता, स्व-शासन और सम्प्रभुता के विचारों के मिले-जुले प्रभाव के बिना अ-उपनिवेशीकरण के उस सिलसिले की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसके तहत द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका में बड़े पैमाने पर नये राष्ट्रों की रचना हुई।

विधिक और राजनीतिक सम्प्रभुता के बीच अंतर का एक बौद्धिक इतिहास है जिसे समझने के लिए ज्याँ बोदाँ और थॉमस हॉब्स के तत्संबंधित मतभेदों पर नज़र डालनी होगी। बोदाँ ने अपनी रचना द सिक्स बुक्स ऑफ कॉमनवील

(1576) में एक ऐसे सम्प्रभु के पक्ष में तर्क दिया है जो खुद कानून बनाता है, पर स्वयं को उन कानूनों के ऊपर रखता है। इस विचार के मुताबिक कानून का अर्थ है लोगों को सम्प्रभु के आदेश पर चलाना। इसका मतलब यह नहीं कि बोदाँ यहाँ किसी निरंकुश शासक की वकालत करना चाहते थे। उनकी मान्यता थी कि कानून बनाने और उनका अनुपालन कराने वाला सम्प्रभु शासक एक उच्चतर कानून (ईश्वर या प्राकृतिक कानून) के अधीन रहेगा। यानी लौकिक शासक के प्राधिकार पर दैवी कानून की मुहर ज़रूरी होगी। बोदाँ के इस विचार के विपरीत हॉब्स अपनी रचना लेवायथन (1651) में सम्प्रभुता के विचार की व्याख्या प्राधिकार के संदर्भ में न करके सत्ता के संदर्भ में करते हैं। हॉब्स से पहले सेंट ऑगस्टीन ने एक ऐसे सम्प्रभु की ज़रूरत पर बल दिया था जो मानवता में अंतर्निहित नैतिक बुराइयों को काबू में रखेगा। इसी तर्क का और विकास करते हुए हॉब्स ने सम्प्रभुता को दमनकारी सत्ता पर एकाधिकार के रूप में परिभाषित करते हुए सिफारिश की कि यह ताकत अकेले शासक के हाथ में होनी चाहिए। हालाँकि हॉब्स निर्बाध राजशाही को प्राथमिकता देते थे, पर वे यह मानने के लिए भी तैयार थे यह सत्ता शासकों के एक छोटे से गुट या किसी लोकतांत्रिक सभा के हाथ में भी हो सकती है।

बोदाँ और हॉब्स के बीच की यह बहस बताती है कि विधिक सम्प्रभुता राज्य के कानून को सर्वोपरि मानने पर टिकी हुई है। इसके विपरीत राजनीतिक सम्प्रभुता सत्ता के वास्तविक वितरण से जुड़ी हुई है। इस फर्क के बावजूद यह भी मानना पड़ेगा कि सम्प्रभुता की व्यावहारिक धारणा में विधिक पहलू

भी होते हैं और राजनीतिक भी। आधुनिक राज्यों की सम्प्रभुता कानून की सर्वोपरिता पर भी निर्भर है और उस कानून का अनुपालन करवाने वाले सत्तामूलक तंत्र पर भी जिसके पास दमनकारी मशीनरी होती है। कोई भी कानून महज़ नैतिक बाध्यताओं के दम पर लागू नहीं होता। दण्ड देने वाली व्यवस्था, पुलिस, जेल और अदालतों के बिना उसे कायम नहीं किया जा सकता। विधिक और राजनीतिक सम्प्रभुता का यह समीकरण दोनों तरफ से कारगर होता दिखाई देता है। कानून को अपने अनुपालन के लिए अगर सत्ता के तंत्र की ज़रूरत है, तो सत्ता को अपनी वैधता के लिए कानून की संस्तुति की आवश्यकता पड़ती है। शासन को कानूनसम्मत और संविधानसम्मत होना पड़ता है, तभी उसकी वैधता कायम रह पाती है। केवल राजनीतिक सम्प्रभुता के दम पर तानाशाह सरकारें ही काम करती हैं। अगर सरकार लोकतांत्रिक है तो उसकी दमनकारी मशीनरी को कानून की सीमाओं में रह कर अदालतों के सम्मुख जवाबदेह रहना पड़ता है।

सम्प्रभुता के आंतरिक स्वरूप के प्रश्न पर राजनीतिक सिद्धांत के दायरों में काफी बहस हुई है। आखिर सर्वोच्च और असीमित सत्ता का मुकाम क्या होना चाहिए? क्या उसे किसी एक शासक के हाथ में रखा जाना श्रेयस्कर होगा या उसका केंद्र किसी प्रतिनिधित्वमूलक संस्था में निहित होना बेहतर होगा? सत्रहवीं सदी में फ्रांस के सम्राट लुई चौदहवें ने दर्प से कहा था कि मैं ही राज्य हूँ। एक व्यक्ति के हाथ में सम्प्रभुता देने के पीछे तर्क यह है कि उस सूरत में सम्प्रभुता के अविभाज्य होने का गारंटी रहेगी। उसकी अभिव्यक्ति एक ही आवाज़ में होगी और उसमें कोई दूसरा प्राधिकार हस्तक्षेप नहीं कर

पायेगा। सम्प्रभुता की इस सर्वसत्तावादी धारणा में प्रभावशाली हस्तक्षेप अठारहवीं सदी में किया गया जब ज्याँ-ज़ाक रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की अवधारणा पेश की।

रूसो ने राजशाही की हुकूमत को खारिज करते हुए अपनी रचना सोशल कांटेक्ट में लिखा : 'मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है, पर हर जगह वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।' दरअसल, सोशल कांटेक्ट आधुनिक राजनीतिक दर्शन को एकदम नया रूप दे देती है। उनका सामाजिक समझौता हॉब्स और लॉक के सामाजिक समझौते से अलग है। रूसो से पहले के दार्शनिकों का यकीन था कि मनुष्य अपनी बुद्धिगत क्षमताओं के कारण दूसरे प्राणियों से भिन्न है, जबकि रूसो मानते हैं कि इंसान नैतिक चुनाव की क्षमता के कारण अलग है। अगर उसे यह चुनाव करने की आज़ादी न दी जाए तो वह दास से अधिक कुछ नहीं रह जाएगा। चूँकि समाज तरह-तरह की अ-स्वतंत्रताओं से भरा हुआ है और मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता के शुरुआती संसार में नहीं लौट सकता, इसलिए रूसो तजवीज़ करते हैं कि उसे अपनी उस आज़ादी का विनिमय नागरिक स्वतंत्रता से करना चाहिए। इसके लिए मनुष्य को एक-दूसरे से मिल कर संगठन बनाना होगा, सामाजिक अस्तित्व रचना होगा जिसके तहत सभी लोग अपने अधिकार त्याग देंगे और बदले में नागरिक के रूप में अधिकार प्राप्त करेंगे, एक सम्प्रभु के सदस्य के रूप में रहेंगे। अर्थात् एक संविधान बनाना पड़ेगा जिसके तहत हर व्यक्ति अधीन भी होगा और सहभागी नागरिक भी। केवल इसी तरह स्वतंत्रता की गारंटी की जा सकेगी। यह लोकतंत्र की अवधारणा थी, पर रूसो जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलाये

जाने वाले लोकतंत्र या विधि-निर्माण से सहमत नहीं थे। प्राचीन यूनान के प्रत्यक्ष लोकतंत्र की तरह रूसो चाहते थे कि सभी नागरिक एक सार्वजनिक स्थान पर जमा हो कर विधि निर्माण करें। अल्पमत को बहुमत द्वारा लिए गये निर्णय के अधीन होने से बचाने के लिए रूसो ने सर्वसम्मति का पक्ष लिया जिसे कारगर बनाने के लिए उन्होंने अपने सबसे विख्यात सिद्धांत 'जन-इच्छा' (जर्नल विल) का सूत्रीकरण किया। 'जन-इच्छा' के आधार पर रचे गये कानून के पालन का मतलब था स्वयं अपनी इच्छा का पालन करना।

रूसो द्वारा प्रवर्तित 'जन-इच्छा' का सिद्धांत आगे चल कर आधुनिक लोकतांत्रिक सिद्धांत का आधार बना। रूसो ने ऐसे नागरिकों के सहज समुदाय कल्पना की थी जो ऊँच- नीच के संबंधों से परे समानता और एकता के वाहक होंगे, इसलिए उन्हें विश्वास था कि उनके बीच में 'जन-इच्छा' उपलब्ध करना आसान होगा। लेकिन रूसो कभी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये कि नागरिकों की आम सभा में व्यक्त की जाने वाली इच्छाओं में से 'जर्नल-विल' कैसे निकलेगी। इसलिए अंत में वे यह कहते हुए नज़र आये कि अगर 'जन- इच्छा' नहीं उपलब्ध हो पा रही है तो बहुमत की इच्छा को ही उसका पर्याय मान लिया जाना चाहिए।

सम्प्रभुता के सिद्धांत को उदारतावादी-लोकतांत्रिक विचार के पैरोकारों ने आड़े हाथों भी लिया है। उनका कहना है कि बहुलतावादी और लोकतांत्रिक शासन के संदर्भ में सम्प्रभुता की धारणा अनावश्यक है। ये लोग सम्प्रभुता के विचार को उसके सर्वसत्तावादी अतीत से पीड़ित और इसलिए अवांछनीय मानते हैं। उनका कहना है कि लोकतांत्रिक सरकारें दमनकारी मशीनरी द्वारा

थोपे जाने वाले कथित रूप से विधिसम्मत शासन द्वारा नहीं चलतीं। वे तो नियंत्रण और संतुलन के समीकरण और उसके आधार पर बने नेटवर्क के ज़रिये शासन करती हैं। दरअसल, संघात्मक चरित्र वाले आधुनिक राज्यों में आंतरिक सम्प्रभुता का केंद्र तय करना बहुत मुश्किल है। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और भारत जैसे संघात्मक राज्यों में सरकार दो स्तरों में विभाजित है और प्रत्येक स्तर के पास अपने स्वायत्त अधिकार हैं। इस प्रकार के राज्यों में सम्प्रभुता केंद्र और परिधि के बीच साझेदारी के रूप में उभरती है। ऐसी परिस्थिति में अगर कोई अविभाजित सम्प्रभु है तो वह है संविधान जो केंद्र को भी सम्प्रभुता सम्पन्न बनाता है, और राज्यों को भी।

बाह्य सम्प्रभुता अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में किसी राज्य की हैसियत की द्योतक है। इस तरह की परिस्थितियाँ भी होती हैं कि किसी राज्य में आंतरिक सम्प्रभुता पर विवाद चलता रहता है, पर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी बाह्य सम्प्रभुता का आदर किया जाता है। वैसे भी लोकतंत्रों के युग में आंतरिक सम्प्रभुता के मसले अब इतने ज़्यादा अहम नहीं माने जाते, पर बाह्य सम्प्रभुता का प्रश्न पहले से कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण हो चुका है। ऐसे कई अंतर्राष्ट्रीय विवाद हैं जिनमें एक देश की सम्प्रभुता का दावा दूसरे देश की तरफ से अपनी सम्प्रभुता के लिए चुनौती के रूप में देखा जाता है। फलिस्तीनियों द्वारा अपने सम्प्रभु राष्ट्र के लिए चलाया जाने वाला आंदोलन इजरायल को अपनी सम्प्रभुता के क्षय का कारक लगता है।

अधिकार [Emancipation]

कोई भी राजनीतिक बहस अधिकारों का हवाला दिये बिना नहीं हो सकती। रोज़मर्रा की ज़िंदगी भी अधिकारों की भाषा बोले बिना पूरी नहीं होती। राजनीति में अगर जीवन के अधिकार, काम के अधिकार, शिक्षा के अधिकार, गर्भपात के अधिकार, स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकार, समानता के अधिकार, सामाजिक न्याय के अधिकार और सम्पत्ति के अधिकार जैसी चर्चाएँ होती हैं, तो रोज़ाना की ज़िंदगी में नौजवान देर से घर लौटने और मन-मर्जी के कपड़े पहनने के अधिकारों का दावा करते रहते हैं। इसके उलट माँ-बाप की तरफ से उनकी गतिविधियों को नियंत्रित करने का अधिकार बुलंद किया जाता है। अधिकारों की यह भाषा हमेशा से ही ऐसी नहीं थी। आधुनिकता से पहले के ज़मानों में अधिकार का मतलब होता था सत्ता या विशेष सुविधा, जिसे भोगने का हक सामंतों या पुरोहितों के पास था। राजा दैवी अधिकार से राज्य करता था। यहाँ तक कि यूनान के नगर-राज्यों के प्रत्यक्ष लोकतंत्र में भी सिर्फ थोड़े-बहुत दास-मालिक पुरुषों को ही नागरिकता के अधिकार मिले हुए थे। भारतीय समाज में भी अधिकारों का पदानुक्रमवादी विन्यास प्रचलित रहा है। आधुनिकता ने अधिकारों के इस तात्पर्य और समीकरण को बदल दिया। सत्रहवीं सदी के यूरोप में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ। अठारहवीं सदी में स्वतंत्रता के अमेरिकी घोषणा-पत्र ने कुछ अधिकारों को अविभाज्य करार दिया। इसके फौरन बाद फ्रांसीसी क्रांति ने मनुष्यों और नागरिकों के अधिकारों का युग प्रवर्तक सूत्रीकरण किया। उन्नीसवीं सदी में अधिकारों का दायरा

मानवाधिकारों तक विस्तृत हुआ। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अधिकारों का विचार आधुनिक समाज की पुनर्रचना का प्रमुख आधार बन कर उभरा।

आज अधिकार का मतलब है एक खास तरह से सक्रिय रहने का हक या अपने साथ खास सुलूक करवाने का हक। और, यह हक किसी खास वर्ग या तबके के लिए नहीं, बल्कि सार्वभौम रूप से हर व्यक्ति के लिए उपलब्ध माना जाता है। मनुष्य के रूप में, नागरिक के रूप में, व्यक्ति के रूप में या किसी समूह के सदस्य के रूप में सभी को मतदान करने, अपनी राय देने या आर्थिक प्रगति करने का अधिकार है। ये अधिकार कर्तव्य से इस मायने में भिन्न हैं कि व्यक्ति जब चाहे इन्हें इस्तेमाल न करने का चुनाव कर सकता है। मसलन, मतदान कर्तव्य नहीं बल्कि अधिकार इसलिए है कि मतदाता वोट न डालने के लिए भी स्वतंत्र है। अधिकार एक ऐसा प्रत्यय है जिसमें दो लोग भागीदार होते हैं। एक वह जो अधिकार का धारक है, और दूसरा वह जो अधिकार का प्रेक्षक है। प्रेक्षक, अधिकार के दावे को प्राप्त करने में धारक की या तो सकारात्मक मदद करता है या उसमें नकारात्मक बाधा डालता है।

दिलचस्प बात यह है कि अधिकार संबंधी अवधारणा तो सभी को स्वीकार्य है, पर इस बात पर वाद-विवाद होता रहता है कि कौन से अधिकार किसे मिलने चाहिए और उनका आधार कैसे तय किया जाए। इस बहस का रचनात्मक पक्ष यह है कि अधिकारों का दायरा लगातार बढ़ता जा रहा है : स्त्रियों के अधिकार, बच्चों के अधिकार, अल्पसंख्यकों के अधिकार, समलैंगिकों के अधिकार, विकलांगों के अधिकार और पशुओं के अधिकारों से लेकर अधिकारों की अवधारणा का विस्तार अपनी देह का अंत करने के अधिकार

तक हो गया है। लेकिन, सभी समाज और राज्य अपने सभी वासियों को ये सभी अधिकार सहजता से नहीं देते। अक्सर अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है, आंदोलन चलाये जाते हैं और कभी-कभी लम्बी लड़ाइयों के बावजूद अधिकार प्राप्त नहीं हो पाते। कभी-कभी अधिकार कानूनी रूप से मिल जाते हैं, पर उन्हें समाज के गले उतारने के लिए लम्बा इंतज़ार करना पड़ता है।

अधिकारों की भाषा में जाने पर कई तरह की पेचीदगियों का सामना भी करना पड़ता है। मसलन, क्या मनुष्य के जीवित रहने का अधिकार किसी भ्रूण को भी मिलना चाहिए? अगर हाँ, तो गर्भपात के अधिकार का क्या मतलब रह जाएगा? क्या अधिकार सामाजिक हैसियत और जैविक आवश्यकताओं के आधार पर भी दिये जा सकते हैं? क्या मानव की श्रेणी में न आने वाली प्रजातियों के अधिकारों की भी फ़िक्र की जानी चाहिए? अगर दो वयस्क स्त्री और पुरुष विवाह करने का फैसला करते हैं और उनका यह मिलन उस समुदाय के सांस्कृतिक अधिकारों के लिहाज़ से आपत्तिजनक है तो उस सूरत में व्यक्ति के अधिकार को प्राथमिकता दी जानी चाहिए या समुदाय के अधिकार को?

अधिकारों की कुछ प्रमुख किस्में हैं : नकारात्मक और सकारात्मक अधिकार; नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक अधिकार; वैधानिक और नैतिक अधिकार; मानवाधिकार। समाज और राज्य के अ-हस्तक्षेप पर आधारित अधिकार नकारात्मक कहलाते हैं। उदाहरण के लिए समाज और राज्य से अपेक्षा की जाती है कि वे स्वतंत्रता, जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों में

दखलअंदाज़ी नहीं करेंगे। जीवन के अधिकार के तहत कोई किसी की हत्या नहीं कर सकता, पर इसका मतलब यह भी नहीं निकाला जा सकता कि अहस्तक्षेप की यह बाध्यता किसी को जीवित रखने या ठीक से जीवित रहने में किसी की मदद का कर्तव्य भी आरोपित करती हो।

इसके उलट जैसे ही सकारात्मक अधिकारों की बात आती है, वहाँ समाज के अन्य सदस्यों और राज्य के कर्तव्यों का प्रश्न सामने आ जाता है। मिसाल के लिए स्वास्थ्य का अधिकार, बुनियादी रोज़ी-रोटी का अधिकार और रोज़गार का अधिकार राज्य और समाज से माँग करता है कि इनकी पूर्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बनायी जाएँगी। बीसवीं सदी के मध्य तक नागरिक अधिकार और राजनीतिक अधिकारों को अलग-अलग माना जाता था। सम्पत्ति रखने, अनुबंध करने, अदालत में जाने, अपने धर्म में निष्ठा रखना, प्रेस और अभिव्यक्ति की आज़ादी जैसे अधिकार नागरिक अधिकारों की श्रेणी में आते थे। वोट देना और सरकारी पदों पर रहना राजनीतिक अधिकार थे, जिन्हें केवल वयस्क पुरुषों के लिए ही सुरक्षित रखा गया था। दोनों तरह के अधिकारों के बीच का यह अंतर नागरिकों को तरह तरह की श्रेणियों में बाँट कर देखता था। इस विचार के तहत स्त्रियों को केवल सीमित अधिकार ही दिये जाते थे। इसी तरह गोरी चमड़ी से वंचित लोग भी नागरिकता के पूरे अधिकारों से वंचित थे। स्त्री अधिकार आंदोलन और फिर पचास और साठ के दशक में चले अफ्रीकी मूल के अमेरिकनों के नागरिक अधिकार आंदोलन ने नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के इस स्थापित अंतर को भंग कर दिया। धीरे-धीरे नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों को अलग-

अलग मानने की प्रवृत्तियों का व्यावहारिक रूप से अंत हो गया। इसमें अधिकारों की तीन श्रेणियों की भूमिका रही : अठारहवीं सदी में जिन्हें नागरिक अधिकार, सम्पत्ति, अनुबंध, कानूनी मदद और धार्मिक निष्ठा, माना जाता था, उन्नीसवीं सदी में जिन्हें आर्थिक कल्याण के अधिकारों की संज्ञा दी जाती थी- आहार, आश्रय, स्वास्थ्य और रोज़गार और बीसवीं सदी में जिसे सांस्कृतिक अधिकारों- भाषाई अधिकार, देशज लोगों के अधिकार, अल्पसंख्यक जातीयताओं का राजनीतिक स्वायत्तता का अधिकार का नाम दिया गया। अधिकारों की अवधारणा को समझने के लिए विधिक और नैतिक अधिकारों का फर्क साफ होना बहुत ज़रूरी है। विधिक अधिकार कानून सम्मत होते हैं और उन्हें अदालतों द्वारा लागू किया जा सकता है। इन अधिकारों के साथ दिक्कत यह है कि ऐसे कई अधिकार समाज की निगाहों में उचित नहीं माने जाते। जैसे, 1992 तक एक अंग्रेज़ पति कानूनन अपनी पत्नी के साथ बलात्कार कर सकता था, जबकि समाज द्वारा इस तरह के व्यवहार को भर्त्सना योग्य समझा जाता था।

वेज़ली होफेल्ड ने विधिक अधिकारों को चार श्रेणियों में बाँट कर परिभाषित करने का यत्न किया है : वे अधिकार जिनके साथ कोई कर्तव्य जुड़ा हुआ नहीं है, यानी जिन्हें भोगने या न भोगने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र है, वे अधिकार जिनके साथ दावेदारी जुड़ी हुई है, यानी जो किसी दूसरे पर कर्तव्य आरोपित करते हैं, वे अधिकार जो कानूनी शक्तियाँ प्रदान करते हैं, और वे अधिकार जिनके ज़रिये व्यक्ति किन्हीं बाध्यताओं की अधीनता से बच सकता है। नैतिक अधिकार कानूनी रूप से लागू नहीं किये जा सकते। व्यक्ति जब

किसी दूसरे द्वारा किये गये आश्वासन की पूर्ति की अपेक्षा रखता है तो इसका मतलब यह हुआ कि वह अपने नैतिक अधिकार का दावा कर रहा है। वह मानता है कि उसे वह मिलना ही चाहिए जिसका उससे वायदा किया गया है। नैतिक अधिकारों के साथ दिक्कत यह है कि उनकी संरचना कानून से इतर और बेहद अस्पष्ट होती है। इसीलिए उपयोगितावादी दार्शनिक जेरेमी बेंथम नैतिक अधिकारों के विचार को खारिज कर देते हैं। बेंथम का कहना था कि नैतिक अधिकार केवल उन विधिक अधिकारों की दायदारी के अलावा कुछ नहीं है, जिनके बारे में माना जाता है कि उन्हें होना चाहिए।

परम्परा [Tradition]

अतीत द्वारा वर्तमान को थमायी गयी कोई भी आस्था, विश्वास, चलन, रीति-रिवाज़, संस्था, प्रणाली, आचरणपद्धति, राजनीतिक या सामाजिक व्यवस्था को परम्परा की श्रेणी में माना जाता है। अंग्रेज़ी के शब्द 'ट्रेडिशन' की व्युत्पत्ति 'ट्रैंडर' से हुई है जिसका अर्थ ही है संचरण या हस्तांतरण। परम्परा अतीत की देन ज़रूर है, लेकिन अतीत की कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं की जा सकती। इसलिए यह तय करना मुश्किल है कि परम्परा समझे जाने के लिए किसी चीज़ का कितना प्राचीन होना ज़रूरी है। आम तौर पर परम्पराएँ पीढ़ियों के बीच निरंतरता की द्योतक होती हैं, पर कई बार परम्परा और आधुनिकता के बीच विभाजन रेखा खींचना मुश्किल हो जाता है। मसलन, भारतीय सभ्यता हज़ारों साल पुरानी होने के नाते निस्संदेह पारम्परिक है। लेकिन क्या उन्नीसवीं सदी में शुरू हुए औद्योगिक पूँजीवाद के शुरुआती रूपों को आधुनिकता के खाने में रखा जाएगा, परम्परा के खाने में रखा

जाएगा या फिर परम्परा बनती हुई आधुनिकता की श्रेणी में? क्या सार्विक मताधिकार अपने-आप में एक आधुनिक परम्परा नहीं है? ज़रूरी नहीं कि परम्परा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विघ्न ही डाले। उसके कुछ रूप आधुनिकीकरण का रास्ता साफ भी करते हैं। आधुनिकता भी अपनी तरफ से परम्परा के कई रूपों को कानून के ज़रिये संस्थाबद्ध करती है। यह दोतरफा सिलसिला आधुनिकता के सार्वभौम पहलुओं का स्थानीय परिस्थितियों में अनुवाद करता है। भारतीय परम्परा और भारतीय आधुनिकता की अन्योन्यक्रिया का इस दृष्टि से समृद्ध अध्ययन हुआ है।

समाज-विज्ञान परम्परा और परम्परावाद के बीच में भी फर्क मानता है। परम्परावाद नवीनता का विरोधी हो सकता है, जबकि परम्परा अपनी पुनर्व्याख्या के ज़रिये नये संस्कारों और और नयी परम्पराओं को जन्म देती है। इस दृष्टि से परम्परा को पूरी तरह से स्थिर और अपरिवर्तनीय मानना उचित नहीं होगा। स्थान और समय के अनुसार इसमें तब्दीली आती रहती है।

अतीत की पुनर्व्याख्या और पुनःपरिभाषा से परम्परा की समझ बदल जाती है। परम्परा की एकात्म समझ को नकारते हुए समाज वैज्ञानिकों ने परम्परा को विभेदीकृत ढंग से समझने की चेष्टा भी की है। उन्होंने ग्रामीण समाज के सांस्कृतिक जीवन के विश्लेषण की पद्धति के रूप में लघु परम्परा की धारणा का प्रतिपादन किया है। इसके बरक्स उच्च परम्पराएँ वे मानी जाती हैं जो अभिजनों के बीच विद्यालयों और देवालयों में सचेत रूप से पनपी हों। परम्परा के ये दोनों रूप भिन्न होने के साथ-साथ परस्पर निर्भर भी हैं।

परम्परा के प्रति मोटे तौर पर तीन तरह के रवैयों की शिनाख्त की जा सकती है। ये तीनों रुझान परम्परा और परिवर्तन के बीच की चलने वाली द्वंद्वात्मकता की देन हैं : यथास्थितिवाद अर्थात् अतीत की निरंतरता और शुद्धता कायम रखने के लिए स्थापित चले आ रहे तौर-तरीकों और संस्थाओं में किसी भी तरह के परिवर्तन को अस्वीकार करना; अतीत के आधार वर्तमान की रचना अर्थात् अतीत की वापसी का प्रयास और किसी 'स्वर्ण युग' की धारणा से प्रेरित हो कर उसी के आधार पर परिवर्तन का कार्यक्रम तैयार करना; और परिवर्तन को इसलिए स्वीकार करना ताकि परम्परा का संरक्षण किया जा सके। इस तीसरे रवैये के समर्थक 'स्वाभाविक' परिवर्तन के पैरोकार होते हैं और उसे परम्परा के लिए घातक नहीं मानते।

यथास्थितिवाद एंग्लो-अमेरिकी विचार में जिस प्रवृत्ति को कंज़रवेटिज़म कहते हैं, उसे हिंदी में परम्परानिष्ठता के नाम से भी व्यक्त किया जा सकता है। यथास्थितिवाद परम्परानिष्ठता की ही एक अतिरेकपूर्ण अभिव्यक्ति है। माइकेल ओकशॉट ने 1962 में प्रकाशित अपने निबंध 'रैशनलिज़म इन पॉलिटिक्स' में बताया है कि किस तरह यथास्थितिवाद मानवीय मनोविज्ञान में निहित है। यथास्थितिवादी अनजाने के मुकाबले जाने हुए को, अपरीक्षित की जगह परखे हुए को, रहस्य के मुकाबले तथ्य को, मुमकिन के बजाय मौजूदा को, दूरस्थ के मुकाबले निकटस्थ को, असीमित की अपेक्षा सीमित को, अतिप्रचुर के मुकाबले पर्याप्त को, सम्पूर्ण की अपेक्षा सुविधाजनक को और यूटोपियाई परमानंद के मुकाबले वर्तमान की हँसी को प्राथमिकता देते हैं। यथास्थितिवादी बदलाव को हमेशा अंदेशे की निगाह से देखते हैं। वे वर्तमान

को खारिज नहीं करते, पर उसका मूल्यांकन इस निगाह से करते हैं कि वह कितना परिचित है और उन्हें स्थिरता और सुरक्षा के प्रति कितना आश्वस्त कर सकता है। यथास्थितिवाद के प्रवक्ताओं का विचार है कि सामाजिक संस्थाएँ स्थापित नियमों और आचरणों के संदर्भ में ही अच्छी तरह काम कर पाती हैं। कंज़रवेटिव विचार के विख्यात पैरोकार एडमण्ड बर्क ने फ्रांसीसी क्रांति की आलोचना करते हुए कहा था कि समाज एक अनुबंध पर आधारित है जिसे केवल समाज के मौजूदा सदस्यों द्वारा नहीं किया गया है। समाज दरअसल आज के लोगों, अतीत के लोगों और भविष्य में जन्म लेने वालों के बीच भागीदारी का नाम है। युगों-युगों से जमा की गयी प्रज्ञा ही वर्तमान का मार्गदर्शन कर सकती है। बर्क के विचारों को आड़े हाथों लेते हुए थॉमस पेन ने जवाब में कहा था कि वे जीवितों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं पर मृतकों के प्राधिकार का बोलबाला चाहते हैं। अतीत की श्रद्धेय समझी जाने वाली परम्पराओं का अनालोचनात्मक स्वीकार न केवल आधुनिक लोकतांत्रिक उसूलों के खिलाफ जाता है, बल्कि प्रत्येक पीढ़ी के उस अधिकार का उल्लंघन भी करता है जिसके मुताबिक वह अपना वर्तमान और भविष्य अपनी मर्जी से बनाना चाहती है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी 'रीति-रिवाज़ों की निरंकुशता' के खतरे की तरफ इशारा किया था।

अतीत के आधार पर वर्तमान की रचना: परम्परावादी चिंतन का यह रूप अतीतगामी परिवर्तन का पक्षधर है। वह वर्तमान से असंतुष्ट और भविष्य के प्रति अविश्वास का शिकार रहता है। उसके लिए वर्तमान की हर समस्या का हल अतीत में निहित है। यह विचार कभी-कभी इस कदर रैडिकल साबित

होता है कि उसके गर्भ से क्रांतियाँ भी जन्म लेती हैं। 1979 में ईरान में हुई इस्लामिक क्रांति को अतीतगामी परिवर्तन के ज़बरदस्त उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। अयातुल्ला खुमैनी के नेतृत्व में हुई इस क्रांति ने न केवल ईरान का रिश्ता उसके निकट अतीत से तोड़ दिया, बल्कि उसके भविष्य को प्राचीन इस्लामिक उसूलों के मुताबिक गढ़ने का समग्र कार्यक्रम पेश किया। अतीतगामी परिवर्तन हमेशा दावा करता है कि मानवीय इतिहास के बारे में उसकी दृष्टि पूरी तरह स्पष्ट है। वह इतिहास के एक खास दौर को स्वर्णिम करार दे कर बाकी इतिहास को पतन और स्खलन के सिलसिले के रूप में पेश करने की परियोजना चलाता है। अतीत के एक दौर को आदर्शीकृत करने के आधार पर राजनीति करने वाले इस तरह के रुझानों के कई उदाहरण मौजूद हैं। उन्नीसवीं सदी के यूरोप में कंज़रवेटिज़्म ने तकरीबन यही भूमिका निभायी थी। फ्रांस, रूस और जर्मनी में शासन के संवैधानिक और प्रतिनिधित्वमूलक रूपों की स्थापना के बावजूद कंज़रवेटिव रवैया निरंकुश कुलीनतंत्र की तरफदारी करता रहा। बीसवीं सदी में इतालवीवाद ने मुसोलिनी के नेतृत्व में रोम की फौजी ताकत और अनुशासन की विरुदावलियाँ गा कर ही खुद को स्थापित किया था। हिटलर और नाज़ियों ने 'फर्स्ट राइश' को आदर्श के रूप में पेश करने की कोशिश की थी। रोनाल्ड रीगन ने यही काम 'अमेरिकी वेस्ट' के दुस्साहसवाद से लेने का प्रयास किया था, और मार्गरेट थैचर का खयाल था कि वे उन्नीसवीं सदी के मध्य के ब्रिटेन में प्रचलित शिष्टता, स्वयंसेवा और उद्यम को स्वर्णिम अवधि के रूप में चित्रित कर सकती हैं। भारत के राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भी अंग्रेज़ों की गुलामी से उपजी आत्महीनता का मुकाबला करने के लिए गुप्त काल को स्वर्णिम अतीत

के रूप में पेश किया था। भारतीय राजनीति की हिंदुत्ववादी प्रवृत्तियों पर इतिहास लेखन द्वारा की गयी इस इंजीनियरिंग की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है।

परम्परा के संरक्षण के लिए परिवर्तन : आवश्यक नहीं कि परम्परा के पैरोकार हमेशा परिवर्तन का विरोध ही करते हों या उनकी मंशा केवल प्रतिगामी परिवर्तन का समर्थन करने की हो। उनका एक हिस्सा मानता है कि इतिहास की गति को रोका नहीं जा सकता। परम्परानिष्ठता का यह रूप प्रगतिशील रुझान दिखाते हुए क्रांतिकारी बदलाव के मुकाबले सुधारवादी बदलाव पर ज़ोर देता है ताकि ज़्यादा उथल-पुथल न हो और परम्परा के कई रूप सुरक्षित रहें। इस विचार का सूत्रीकरण बर्क के फ्रांसीसी क्रांति संबंधी लेखन में भी मिलता है। बर्क के अनुसार अगर फ्रांसीसी राजशाही ने सर्वसत्तावाद को जारी रखने का अडिग रवैया न अख्तियार किया होता तो क्रांतिकारी परिस्थितियाँ ही न बनतीं। इंग्लैण्ड में राजशाही इसीलिए बची रह सकी कि उसने अपने ऊपर आरोपित की जाने वाली संवैधानिक सीमाओं को स्वीकार कर लिया। 1917 में बोल्शेविकों को रूसी क्रांति करने का मौका इसीलिए मिल पाया कि ज़ार निकोलस द्वितीय 1905 की क्रांति से कोई सबक सीखने के लिए तैयार नहीं था। पूरी उन्नीसवीं सदी में प्रतिक्रियावादी कंज़रवेटिज़म की साख इसी तरह की ज़िदबाज़ी के कारण गिरती रही और बीसवीं सदी में फासीवाद के साथ जुड़ कर पूरी तरह से ध्वस्त हो गयी। अमेरिकी कंज़रवेटिज़म अपने यूरोपीय बिरादरों के मुकाबले परिवर्तन को कहीं कम संदेह से देखता है। कई प्रेक्षकों की मान्यता है कि अमेरिकी

राजनीतिक संस्कृति पर प्रगतिकांक्षा और असीमित भविष्य की धारणा का ज़बरदस्त बोलबाला है। इसका एक कारण शायद यह भी है कि अमेरिका के पास कोई सामंती इतिहास नहीं है इसलिए वे स्वर्णिम अतीत की किसी फंतासी से बचे रहते हैं। ब्रिटिश कंज़रवेटिज़म भी सामाजिक-जनवादी सुधारों को स्वीकार करता है। यूरोप में 1945 के बाद से ही क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टियाँ मुक्त बाज़ार और सामाजिक न्याय के बीच संतुलन तलाशने में लगी हुई हैं।

सत्ता (Power)

अगर कोई किसी से अपनी मर्ज़ी के आधार पर कुछ ऐसे काम करवा सकता है जो वह अन्यथा नहीं करता, तो इसे एक व्यक्ति की दूसरे पर सत्ता की संज्ञा दी जाएगी। सत्ता की यह सहज लगने वाली परिभाषा रॉबर्ट डाह्ल की देन है। इसका सूत्रीकरण केवल व्यक्तियों के संदर्भ में किया गया है। जैसे ही समूह और सामूहिकता के दायरे में सत्ता पर गौर किया जाता है, कई पेचीदा और विवादास्पद प्रश्न खड़े हो जाते हैं। समझा जाता है कि सामूहिक संदर्भ में सत्ता का आशय ऐसे फैसले करने से है जिन्हें मानने के लिए दूसरे लोग मजबूर हों। मसलन, अध्यापक द्वारा किये गये निर्णय उसकी कक्षा के छात्र मानते हैं और परिवार के सदस्य माता-पिता के फैसलों के आधार पर चलते हैं। लेकिन, राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज-नीति के मामलों के लिए सत्ता की यह परिभाषा अपर्याप्त साबित होती है।

समाज-विज्ञान के छात्र यह पूछ सकते हैं कि समाज के संदर्भ में सत्ता किस के पास रहती है, किसके पास रहनी चाहिए और किस आधार पर उसका

प्रयोग किया जाना चाहिए? इन सवालों की रोशनी में आधुनिक विचार के दायरे में सत्ता के प्रश्न पर गहराई से चिंतन-मनन किया गया है। सत्ता से जुड़े अहम सवालों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि सत्ता समाज में व्यापक और समान रूप से वितरित है या किसी शासक वर्ग या किसी 'पॉवर इलीट' के हाथों में केंद्रित है? सत्ता का प्रश्न उस समय और जटिल हो जाता है जब सत्ता और उसका प्रयोग करने से जुड़े इरादों के समीकरण पर गौर किया जाता है। पार्टियाँ, सरकार, हित-समूह और बड़े- बड़े कॉरपोरेशन सत्ता का इस्तेमाल करते हुए देखे जा सकते हैं। यह सत्ता के इरादतन प्रयोग के उदाहरण हैं। पर क्या यही बात एक विज्ञापक के लिए भी कही जा सकती है? उसका इरादा तो महज़ अपने उत्पाद की बिक्री बढ़ाना है। तो फिर उसके द्वारा जारी विज्ञापन उपभोक्ताओं पर अपनी सत्ता किस तरह से कायम करता है? उपभोक्ता उस विज्ञापन के प्रभाव में कुछ खास तरह के मूल्यों के हक में क्यों झुक जाते हैं? ज़ाहिर है कि सत्ता के 'अभिप्रेत' रूपों के अलावा भी कुछ ऐसे रूप हैं जिन्हें सत्ता के 'संरचनागत' रूपों की संज्ञा दी जा सकती है।

स्टीवन ल्यूक्स ने सत्ता के तीन आयामों की चर्चा करके उसके कई पहलुओं को समेटने की कोशिश की है। उनके अनुसार सत्ता का मतलब है निर्णय लेने का अधिकार अपनी मुट्ठी में रखने की क्षमता, सत्ता का मतलब है राजनीतिक एजेंडे को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए निर्णयों के सार को बदल देने की क्षमता, और सत्ता का मतलब है लोगों की समझ और प्राथमिकताओं से खेलते हुए उनके विचारों को अपने हिसाब से नियंत्रित करने की क्षमता।

रॉबर्ट डाह्ल यह नहीं मानते कि निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता किसी सुपरिभाषित 'शासक अभिजन' या रूलिंग क्लास की मुट्ठी में रहती है। 1963 में प्रकाशित अपनी रचना हू गवर्नस? में डाह्ल ने अमेरिका के न्यू हैर्विस, कनेक्टीकट का अध्ययन पेश किया। इसमें उन्होंने पहले अपने लिहाज़ से निर्णय के तीन प्रमुख क्षेत्रों (शहरी नवीकरण, सार्वजनिक शिक्षा और राजनीतिक उम्मीदवारों का चयन) को छाँटा, निर्णय-प्रक्रिया में शामिल लोगों और उनकी प्राथमिकताओं की शिनाख्त की और फिर उन लोगों द्वारा किये गये फैसलों का उनकी प्राथमिकताओं से मिलान किया। डाह्ल ने यह तो पाया कि आर्थिक और राजनीतिक रूप से ताकतवर लोगों की आम लोगों के मुकाबले फैसलों में ज़्यादा चलती है, पर उन्हें अभिजनों के किसी स्थाई समूह द्वारा फैसले करने या उन्हें प्रभावित करने के सबूत नहीं मिले। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि निर्णयों को प्रभावित करने में सत्ता की भूमिका तो होती है, पर सत्ता एक नहीं बल्कि कई केंद्रों में होती हैं। डाह्ल की मान्यता है कि अगर इसी तरह से सत्ता के स्थानीय रूपों के अध्ययन कर लिए जाएँ तो उसके राष्ट्रीय स्वरूप के बारे में नतीजे निकाले जा सकते हैं।

राजनीतिक एजेंडा अपने हिसाब से बनवाने में सत्ता के इस्तेमाल की शिनाख्त करना थोड़ा मुश्किल है। इस प्रक्रिया में ज़ोर फैसले करने पर कम और दूसरों को फैसलों में शामिल होने से रोकने या किसी खास मत को व्यक्त होने से रोकने पर ज़्यादा रहता है। सत्ता की इस भूमिका को समझने के लिए आवश्यक है कि स्थापित मूल्यों, राजनीतिक मिथकों, चलन और संस्थाओं के काम करने के तरीकों पर ध्यान दिया जाए। इनके ज़रिये किसी एक समूह

का निहित स्वार्थ दूसरे समूहों पर हावी हो जाता है और कई मामलों में उन समूहों को अपनी बात कहने या निर्णय-प्रक्रिया में हिस्सेदारी का मौका भी नहीं मिल पाता। अक्सर यथास्थिति के पैरोकार परिवर्तन की वकालत करने वालों को इन्हीं तरीकों से हाशिये पर धकेलते रहते हैं। उदार-लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रियाओं को अभिजनवादियों द्वारा ऐसे फिल्टरों की तरह देखा जाता है जिनके ज़रिये रैडिकल प्रवृत्तियाँ छँटती चली जाती हैं।

सत्ता का तीसरा चेहरा यानी लोगों के विचारों को नियंत्रित करके अपनी बात मनवाने की प्रक्रिया लोगों की आवश्यकताओं को अपने हिसाब से तय करने की करामात पर निर्भर है। हरबर्ट मारक्यूज़ ने अपनी विख्यात रचना 'वन-डायमेंशनल मैन' (1964) में विश्लेषण किया है कि क्यों विकसित औद्योगिक समाजों को भी सर्वसत्तावादी की श्रेणी में रखना चाहिए। मारक्यूज़ के अनुसार हिटलर के नाज़ी जर्मनी में या स्टालिन के रूस में सत्ता के आतंक का प्रयोग करके सर्वसत्तावादी राज्य कायम किया गया था, पर औद्योगिक समाजों में यही काम आधुनिक प्रौद्योगिकी के ज़रिये बिना किसी प्रत्यक्ष क्रूरता के लोगों की आवश्यकताओं को बदल कर किया जाता है। ऐसे समाजों में टकराव ऊपर से नहीं दिखता, पर इसका मतलब सत्ता के व्यापक वितरण में नहीं निकाला जा सकता। जिस समाज में विपक्ष और प्रतिरोध नहीं है, वहाँ माना जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक नियंत्रण और जकड़बंदी के बारीक हथकंडों का इस्तेमाल हो रहा है।

सत्ता की अवधारणा पर विचार करने के लिए ज़रूरी है कि उसके मार्क्सवादी, उत्तर-आधुनिक, नारीवादी आयामों और हान्रा एरेंट द्वारा प्रतिपादित सत्ता की वैकल्पिक धारणा पर भी गौर कर लिया जाए।

मार्क्सवादी विद्वान मानते हैं कि वर्गों में बँटे समाज में (जैसे कि पूँजीवादी समाज) शासक वर्ग का उत्पादन के साधनों पर कब्ज़ा होता है और वह मज़दूर वर्ग पर अपनी सत्ता थोपता है। पूँजीवादी वर्ग की सत्ता न केवल विचारधारात्मक, बल्कि आर्थिक और राजनीतिक भी होती है। मार्क्स का विचार था कि किसी भी समाज में विचारों, मूल्यों और आस्थाओं के प्रधान रूप शासक वर्ग के अनुकूल होते हैं। मज़दूर वर्ग के मानस पर उन्हीं की छाप होती है जिसका नतीजा श्रमिकों की 'भ्रांत चेतना' में निकलता है। चेतना के इसी रूप के कारण मज़दूर अपने शोषण की असलियत को पहचान नहीं पाते। इसीलिए उनके 'वास्तविक' हित यानी पूँजीवाद के उन्मूलन और उनके 'अनुभूत' हित में अंतर बना रहता है। लेनिन की मान्यता थी कि पूँजीवादी विचारधारा की सत्ता के कारण मेहनतकश वर्ग ज़्यादा से ज़्यादा केवल 'ट्रेड यूनियन चेतना' ही प्राप्त कर सकता है। अर्थात् वह पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर अपनी जीवन-स्थितियाँ सुधारने से परे नहीं जा पाता।

मिशेल फूको ने अपने विमर्श में सत्ता और विचार- प्रणालियों के बीच सूत्र की तरफ ध्यान खींचा है। फूको विमर्श को सामाजिक संबंधों और आचरणों की ऐसी प्रणाली के रूप में देखते हैं जो अपने दायरे में रहने वाले लोगों को अपने हिसाब से तात्पर्य थमाती रहती है। चाहे मनोचिकित्सा हो, औषधि हो, न्याय प्रणाली हो, या कारागार, अकादमीय अनुशासन या राजनीतिक विचारधाराएँ

हों, फूको की निगाह में ये सभी विमर्श की प्रणालियाँ हैं, और इस नाते सत्ता के रूप हैं। फूको के मुताबिक आधुनिक युग में सत्ता किसी को कुछ करने से नहीं रोकती, बल्कि अस्मिताओं और आत्मपरकताओं की रचना करती है। सत्ता का राज्य या शासक वर्ग जैसे कोई एक केंद्र नहीं होता, बल्कि वह उसी तरह पूरी व्यवस्था में प्रवाहित होती रहती है जिस तरह शरीर में धमनियों द्वारा रक्त प्रवाहित होता है। इस प्रक्रिया का नियंत्रण 'शासकीयता' के ज़रिये किया जाता है। एक विशाल नौकरशाही तंत्र द्वारा अननिगनत तरीके अपना कर लोगों का वर्गीकरण किया जाता है। समाज को उत्तरोत्तर संगठित और समरूपीकृत करते हुए उन पर निगरानी के विभिन्न रूप (आइडेंटिटी कार्डस, पासपोर्ट आदि) थोपे जाते हैं। इस प्रक्रिया में लोग तरह-तरह की आत्मपरकताएँ (हिंदू- मुसलमान, भारतीय-पाकिस्तानी, शिक्षित-निरक्षर, स्वस्थ- रोगी, स्त्री-पुरुष) जज़ब कर लेते हैं। इसी आत्मसातीकरण के माध्यम से व्यक्ति सत्ता को 'नॉर्मल' ढंग से स्वीकार करता रहता है। शासकीयता इसी 'नार्मलाइज़ेशन' के माध्यम से व्यक्ति को 'सब्जेक्ट' में बदलती है। सब्जेक्ट एक ऐसी अभिव्यक्ति है जिसका एक अर्थ है स्वतंत्रकर्ता और दूसरा है शासित प्रजा का सदस्य। फूको का मतलब यह है कि विमर्श के ज़रिये सब्जेक्ट में बदलते ही व्यक्ति शासकीयता की कारगुज़ारियों की मातहत में चला जाता है।

नारीवादी विद्वान सत्ता को पितृसत्ता की अवधारणा की रोशनी में परखते हैं। पितृसत्ता प्रभुत्व की एक ऐसी सर्वव्यापी संरचना है जो हर स्तर पर काम करती है। पितृसत्ता के तहत कोई स्त्री व्यक्तिगत स्तर पर सत्तावान भी हो

सकती है। लेकिन उसे पितृसत्तात्मक शासन द्वारा तय की गयी सीमाओं में ही काम करना होगा। मसलन, घर के दायरे में स्त्री सास के रूप में तो एक हद तक सत्ताधारी हो सकती है, पर बेटी, बहू, पत्नी या बहन के रूप में नहीं। हर जगह उसकी स्थिति पुरुष के सापेक्ष और उसके साथ संबंध के तहत ही परिभाषित होने के लिए मजबूर है। अकेली और पृथक् कोई अस्मिता न होने के कारण वह अदृश्य और सत्ता से वंचित होने के लिए अभिशप्त है।

नारीवादियों के मुताबिक पितृसत्ता की कोई ऐसी समरूप संरचना नहीं होती जो हर जगह एक ही रूप में मिलती हो। इतिहास, भूगोल और संस्कृति के मुताबिक उसके भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। इसके अलावा पितृसत्ता शोषण और प्रभुत्व के अन्य रूपों (वर्ग, जाति, साम्राज्यवाद, नस्ल आदि) के साथ परस्पर व्यापी भी है। हर जगह उसके प्रभाव अलग-अलग निकलते हैं। एक अमेरिकी श्वेत स्त्री और भारतीय दलित स्त्री को पितृसत्ता का उत्पीड़न अलग-अलग ढंग से झेलना पड़ता है।

हान्रा एरेंट सत्ता को केवल प्रभुत्व की संरचना के तौर पर देखने के लिए तैयार नहीं हैं। अपनी रचना 'व्हाट इज़ अथॉरिटी?' में वे सत्ता को एक बढ़ी हुई क्षमता के रूप में व्याख्यायित करती हैं जो सामूहिक कार्रवाई के ज़रिये हासिल की जाती है। लोग जब आपस में संवाद स्थापित करते हैं और मिल-जुल कर एक साझा उद्यम की खातिर कदम उठाते हैं तो उस प्रक्रिया में सत्ता उद्भूत होती है। सत्ता का यह रूप वह आधार मुहैया कराता है जिस पर खड़े हो कर व्यक्ति नैतिक उत्तरदायित्व का वहन करते हुए सक्रिय होता है।

सुधार (Reform)

सुधार या रिफॉर्म का आधुनिक अर्थ है निरंतरता कायम रखते हुए परिवर्तन अर्थात् उथल-पुथल मचा देने वाले किसी एकमुश्त बुनियादी परिवर्तन से बचते हुए पहले के मुकाबले बेहतर होते चले जाना। सुधारों में पुराने समाजों का नवीकरण करने की क्षमता होती है। सुधारों से गुज़रने वाले व्यक्ति, समाज या संस्था में से अवांछित समझे जाने वाले पहलू निकल जाते हैं, लेकिन जो पहले था उसे नष्ट करके एकदम नया बनाने की क्रांतिकारी प्रक्रिया नहीं चलती। दिलचस्प बात यह है कि आधुनिकता से पहले रिफॉर्म का अर्थ इसका ठीक उल्टा था। इसका मतलब था रि-फॉर्म यानी जो रूप पहले था उसी को फिर से धारण करना। मसलन, सिपाहियों को अपनी कतारें रि-फॉर्म करने का आदेश दिया जाता था। इस अर्थ को समाज, धर्म और राजनीति के दायरों में रूढ़ करने की भूमिका सोलहवीं सदी के दौरान ईसाई धर्म के भीतर मार्टिन लूथर के नेतृत्व में चले प्रोटेस्टेंट रिफॉर्मेशन आंदोलन ने निभायी। लूथर की मुहिम तत्कालीन कैथोलिक चर्च के भ्रष्टाचार के बरक्स आध्यात्मिकता के पुराने और अपेक्षाकृत शुद्ध रूपों की पुनः स्थापना के लिए थी। ज़ाहिर है कि सुधार की परिघटना का यह पीछे मुड़कर देखने वाला पहलू अपने व्यापक अर्थों में अतीतोन्मुखता और पुरानी व्यवस्था के जीर्णोद्धार जैसे कार्यक्रमों से जुड़ा हुआ था। आधुनिकता और सेक्युलरीकरण ने रिफॉर्म के इस अर्थ को पूरी तरह से बदल कर उसे प्रगति के विचार से जोड़ दिया। व्यक्तिगत चरित्र से लेकर सामुदायिक रीति-रिवाज़ों, धार्मिक तौर-तरीकों, राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियों में सुधार की कोई

भी माँग या उसके आधार पर चलाई जाने वाली किसी भी मुहिम की आलोचना प्रतिक्रियावादी या यथास्थितिवादी कही जाने लगी।

भूमण्डलीकरण संबंधी अध्ययनों में सुधार का तात्पर्य न्यू पब्लिक मैनेजमेंट से है। इसके तहत अपनायी जाने वाली प्रक्रियाओं और रणनीतियों से राजनीतिक प्रणालियों में भीतरी तब्दीलियाँ लायी जाती हैं। एनपीएम की थ्योरी का प्रतिपादन लुई गन और क्रिस्टोफर हुड ने अस्सी के दशक के मध्य में किया था। इन परिवर्तनों का मकसद होता है नियम-आधारित और प्राधिकार-आधारित प्रक्रियाओं को बाज़ार-आधारित और स्पर्धा-आधारित कार्यनीतियों से प्रतिस्थापित करना। एनपीएम को सुधार के ग्लोबल मूवमेंट की संज्ञा भी दी जाती है, क्योंकि तकरीबन एक सी रणनीतियों के आधार पर अस्सी से नब्बे के दशक के बीच में कई राष्ट्रों ने सुधार के इस एजेंडे पर अमल किया। एनपीएम के छह मुख्य लक्षण गिनाये गये हैं : उत्पादकता में बढ़ोतरी करने वाले कार्यक्रमों को अपनाना, प्रबंधकों की कार्यशैली बदलने के लिए बाज़ार द्वारा अख्तियार करने वाले तौर-तरीकों पर ज़ोर देना, नागरिकों को 'क्लाइंट' के तौर पर देखना, शासन के निचले स्तर तक विभिन्न कार्यक्रमों का विकेंद्रीकरण करना, सरकार के नीति संबंधी दायित्वों को उसके सेवा मुहैया कराने वाले दायित्वों से अलग कर देना, और जवाबदेही की कसौटियों को बदलना (ऊपर से नीचे आने वाले नियम आधारित ढाँचे की जगह नीचे से ऊपर जाने वाले परिणाम आधारित ढाँचे को कायम करना ताकि प्रक्रियाओं और संरचनाओं की जगह उत्पादन और नतीजों पर ज़्यादा ज़ोर दिया जा सके)। एनपीएम मान कर चलता है कि प्रबंधन में सुधार लाने

की यह मुहिम भूमण्डलीकरण के युग में आर्थिक समृद्धि और सामाजिक स्थिरता के उद्देश्य से सुशासन की धारणा के इर्द-गिर्द खुद को गोलबंद करती है और उसी के मुताबिक लक्ष्य, भूमिका, क्षमता और संबंधों के समीकरण का विन्यास किया जाता है। एनपीएम की धारणा है कि पब्लिक मैनेजमेंट संबंधी सुधारों से सरकार और नागरिकों के बीच का संबंध बदल कर उसे नव-उदारतावादी मूल्यों के मुताबिक ढाला जा सकता है। विभिन्न तरह की सरकारों द्वारा एनपीएम को अपनाये जाने के बावजूद उसे दुतरफा आलोचना का सामना करना पड़ा है।

नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के आलोचक एनपीएम के भी सबसे बड़े आलोचक हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भी उसे आड़े हाथों लिया गया है और कल्याणकारी राज्य का समर्थन करने वालों ने भी उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया है। मार्क्सवादियों की परम्परा परिवर्तन के संदर्भ में सुधार के बजाय क्रांति को प्राथमिकता देने की रही है। किसी विफल होती हुई संस्था में सुधार की माँग का तात्पर्य होगा उसके सांगठनिक ढाँचे का पुनर्गठन, अधिकारों का नये सिरे से बँटवारा और ज़िम्मेदारियों का पुनः आबंटन। बजाय इसके क्रांतिकारी रवैया उस संस्था को पूरी तरह से भंग करके उसकी जगह नयी संस्था स्थापित करने की माँग करेगा। दरअसल, क्रांति का विमर्श परिवर्तन के माध्यम के रूप में 'सुधार' को किसी किस्म की वैधता देने से इनकार करता है। क्रांतिकारी विचारकों की मान्यता है कि सुधार कभी बुनियादी स्थितियों को नहीं बदलते। वे केवल सतही परिवर्तन को ही अंजाम दे पाते हैं। सुधार कभी भी निजी सम्पत्ति के संस्थागत रूपों को

नहीं बदलते और इस तरह पूँजीवादी व्यवस्था को टिकाये रखने के माध्यम बन जाते हैं। रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग ने 1899 में प्रकाशित अपनी रचना 'सोशल रिफॉर्म ऑर रेवोल्यूशन' में जर्मन समाजवादियों के सुधारवादी रुझानों पर आक्रमण करते हुए उसे पूँजीवादी लोकतंत्र का ही एक रूप करार देती हैं। रोज़ा की स्पष्ट मान्यता थी कि संसदीय राजनीति के तहत होने वाला क्रमिक परिवर्तन सर्वहारा वर्ग के हितों की सेवा नहीं कर सकता। सुधारवाद के सबसे बड़े आलोचक तो लेनिन थे। उन्होंने अपनी विख्यात रचना 'द स्टेट ऐंड रेवोल्यूशन' में लिखा है कि संसदीय चुनावों के ज़रिये एक निश्चित अवधि के बाद यह तय होता है कि शासक वर्ग का कौन सा हिस्सा और कौन सा नेता जनता का दमन और उत्पीड़न करेगा। दूसरी तरफ उदारतावादी सुधारों में यकीन करते हैं। जेरेमी बेंथम और उनके द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद के दर्शन ने उन्नीसवीं सदी के ब्रिटेन में हुए कई प्रमुख सुधारों को दार्शनिक आधार मुहैया कराया था। 'अधिकतम लोगों को अधिकतम खुशी' मुहैया कराने के उसूल के मुताबिक उपयोगितावाद के पैरोकारों ने कई तरह के वैधानिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधारों के लिए दबाव बनाया। बेंथम का आग्रह था कि 'प्राकृतिक कानून' या 'प्राकृतिक अधिकार' जैसे हवाई विचारों के चक्कर में फँसे बिना उपयोगिता की बुद्धिसंगत पैमाइश करते हुए उसके आधार पर विधिनिर्माण किया जाना चाहिए। इन उपयोगितावादियों ने ऐडम स्मिथ और डेविड रिकॉर्डो द्वारा प्रवर्तित क्लासिकल पॉलिटिकल इकॉनॉमी का समर्थन किया। ज़ाहिर है कि ये लोग बाज़ार के कामकाज में किसी भी किस्म के संरक्षणवाद या इजारेदारी द्वारा बाधा डालने का विरोध करते थे। इन लोगों ने राजनीतिक सुधारों के जिस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया उसके

केंद्र में लोकतंत्र और गुप्त मतदान द्वारा होने वाला चुनाव था। इन सुधारकों की बदौलत ब्रिटेन एक पदानुक्रमवादी और कुलीनतंत्रीय व्यवस्था से बदलकर आधुनिक संसदीय लोकतंत्र का रूप ग्रहण कर पाया।

समाजवादी सुधारकों ने भी उदारतावाद के कई आयामों को अपनाया। 1884 में स्थापित फेबियन सोसाइटी ने क्रांतिकारी समाजवाद को खारिज करते हुए एक ऐसे समाजवादी समाज की तजवीज़ की जिसे निरंतर चलने वाले योजनाबद्ध सुधारों के ज़रिये पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर से उभरना था। फेबियन समाजवाद ने अपना नामकरण उस रोमन सेनापति फेबियस मैक्सिमस के नाम पर किया था जिसने अपनी धीरजभरी और टालू किस्म की समरनीति के दम पर हनीबाल की हमलावर फौजों को हरा दिया था। यही नीति आगे चल कर 'क्रमशःवाद की अपरिहार्यता' के रूप में स्वीकृत हुई। सुधारवाद की यह वामपंथी परम्परा संसदीय प्रणाली में यकीन करने वाले यूरोपियन और अन्य समाजवादियों ने अपनायी। जर्मनी में एडुअर्ड बर्नस्टीन ने 1898 में 'इवोल्यूशनरी सोशलिज़्म' लिख कर क्रांतिकारी मार्क्सवाद की आलोचना की और पूँजीवाद से समाजवाद में शांतिपूर्ण संक्रमण का सिद्धांत पेश किया। पश्चिमी सामाजिक जनवाद का आधार यही है। 1956 में एंथनी क्रॉसलैण्ड ने अपनी रचना 'द फ्यूचर ऑफ सोशलिज़्म' में दावा किया कि समाजवाद का मतलब पूँजीवाद का उन्मूलन करके उसकी जगह जन-स्वामित्व की स्थापना नहीं है, बल्कि समाज में सुविधाओं के अधिक समतामूलक बँटवारे के ज़रिये समानता के लक्ष्य की तरफ निरंतर बढ़ते जाना है। क्रॉसलैण्ड का विचार था कि यह लक्ष्य समाज सुधार की क्रमिक

प्रक्रिया, कल्याणकारी राज्य के विस्तार और शिक्षा सुविधाओं में निरंतर सुधार के माध्यम से हो सकता है।

सुधार के पक्ष में तीन सबसे मज़बूत तर्क दिये जाते हैं। पहला, सुधार शांतिपूर्ण होते हैं। टुकड़ों-टुकड़ों में धीरे-धीरे एक लम्बी अवधि में किये जाने के कारण उनके कारण हिंसा और उथल-पुथल नहीं मचती। शुरू में भले ही सतही लगें पर अंत में उनका कुल योगफल बुनियादी परिवर्तन जैसा ही निकलता है। दूसरा, जो पहले से मौजूद है उसे खारिज या नष्ट करने के बजाय सुधार उसी के आधार पर अपने ढाँचे का निर्माण करते हैं। इस तरह वे अतीत और वर्तमान दोनों से लाभान्वित होने में सफल रहते हैं। तीसरा, सुधार एक वर्तमान प्रक्रिया है जो छोटे-छोटे कदम उठा कर पूरी होती है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य का विकास इसी तरह से हुआ है। तीस के दशक में रूज़वेल्ट द्वारा उठाये गये कदमों की बुनियाद पर ही अमेरिका राज्य साठ के दशक में कल्याणकारी नीतियों का कार्यक्रम लागू कर पाया। इसी तरह ब्रिटेन में प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान किये गये कार्यक्रमों की बुनियाद पर ही चालीस के दशक में एटली ने सुधार की नीतियाँ तैयार कर पायीं।

स्वराज (Swaraj)

महात्मा गांधी अपनी 'स्वराज' या 'स्वराज्य' संबंधी अवधारणा को जीवनपर्यंत परिभाषित करते रहे। हिंदुस्तान के संदर्भ में उन्होंने जिस स्वराज की परिकल्पना की थी, उसके केंद्र में थी गांवों की स्वायत्त, स्वावलंबी अर्थ एवं प्रबंधन सत्ता। उनकी दृष्टि में गांवों की संपन्नता में ही देश की संपन्नता तथा गांवों की स्वायत्त पंचायती व्यवस्था में ही देश की सच्ची प्रजातांत्रिक छवि

अभिव्यक्ति पा सकती थी। उनका मानना था कि भारत चंद शहरों में नहीं, बल्कि सात लाख गांवों में बसा हुआ है और इस सोच के अनुरूप उन्होंने किसानों को राष्ट्रीय आंदोलन में व्यापक पैमाने पर शामिल किया। गांधी ने 1920 से स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व संभाला, तो उनके लिए भारत के शहरों का नहीं, बल्कि सात लाख गांवों के पुनर्निर्माण का मुद्दा अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। यही कारण था कि उन्होंने देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ ग्रामोद्योग, ग्राम-स्वराज्य जैसी योजनाओं की परिकल्पना का भी अपने रचनात्मक कार्यक्रमों में समावेश किया। हिंद स्वराज की परिकल्पना को उन्होंने ग्राम-स्वराज्य का पर्याय बना दिया।

गांधीजी अपने कई भाषणों एवं लेखों में ग्राम-स्वराज्य के संबंध में अपनी योजनाओं की रूपरेखा प्रस्तुत करते रहे, जिसका सिलसिला 1909 में लिखी उनकी पुस्तक 'हिंद स्वराज' से लेकर जीवनपर्यंत चलता रहा। मसलन, 'हरिजन सेवक' नामक पत्र के 2 अगस्त, 1942 के अंक में उन्होंने 'ग्राम-स्वराज्य' की चर्चा करते हुए लिखा- "ग्राम-स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा; और फिर भी बहुतेरी दूसरी जरूरतों के लिए- जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा- वह परस्पर सहयोग से काम लेगा। इस तरह हर एक गांव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले। उसके पास इतनी सुरक्षित जमीन होनी चाहिए जिसमें ढोर चर सकें और गांव के बड़ों व बच्चों के लिए मनबहलाव के साधन और खेल-कूद के मैदान वगैरा

का बंदोबस्त हो सके। हर एक गांव में गांव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा-भवन रहेगा। पानी के लिए उसका अपना इंतजाम होगा- वाटर वर्क्स होंगे- जिससे गांव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं और तालाबों पर गांव का पूरा नियंत्रण रखकर यह काम किया जा सकता है। बुनियादी तालीम के आखिरी दरजे तक शिक्षा सबके लिए लाजिमी होगी। जहां तक हो सकेगा, गांव के सारे काम सहयोग के आधार पर किए जाएंगे। जात-पांत और क्रमागत अस्पृश्यता के जैसे भेद आज हमारे समाज में पाए जाते हैं, वैसे इस ग्राम-समाज में बिल्कुल नहीं रहेंगे।”

इसी लेख में वह यह भी कहते हैं “सत्याग्रह और असहयोग के शस्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन बल होगी।... गांव का शासन चलाने के लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गांव के बालिग स्त्री-पुरुषों को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूंकि इस ग्राम स्वराज में आज के प्रचलित अर्थों में सजा या दंड का कोई रिवाज नहीं रहेगा, इसलिए यह पंचायत अपने एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही धारा सभा, न्याय सभा और कार्यकारिणी सभा का सारा काम संयुक्त रूप से करेगी।... इस ग्राम शासन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधार रखने वाला संपूर्ण प्रजातंत्र काम करेगा। व्यक्ति ही इस सरकार का निर्माता भी होगा। उसकी सरकार और वह दोनों अहिंसा के वश होकर चलेंगे। अपने गांव के साथ वह सारी दुनिया की शक्ति का मुकाबला कर सकेगा।”

ग्राम-स्वराज्य के लिए और वांछनीय चीजों की चर्चा करते हुए गांधी जी ने 'हरिजन सेवक' के दस नवंबर 1946 के अंक में लिखा- "देहात वालों में ऐसी कला और कारीगरी का विकास होना चाहिए, जिससे बाहर उनकी पैदा की हुई चीजों की कीमत की जा सके। जब गांवों का पूरा-पूरा विकास हो जाएगा, तो देहातियों की बुद्धि और आत्मा को संतुष्ट करने वाली कला-कारिगरी के धनी स्त्री-पुरुषों की गांवों में कमी नहीं रहेगी। गांव में कवि होंगे, चित्रकार होंगे, शिल्पी होंगे, भाषा के पंडित और शोध करने वाले लोग भी होंगे। थोड़े में, जिंदगी की ऐसी कोई चीज न होगी जो गांव में न मिले। आज हमारे गांव उजड़े हुए और कूड़े-कचरे के ढेर बने हुए हैं। कल वहीं सुंदर बगीचे होंगे और ग्रामवासियों को ठगना या उनका शोषण करना असंभव हो जाएगा।"

संक्षेप में यही गांधी की ग्राम-स्वराज्य संबंधी परिकल्पना है, जिसे मूर्त करते हुए वे गांवों की पुनर्चना करने का सपना संजोए हुए थे और इसी में वे हिंद स्वराज को मूर्त होते हुए देखना चाहते थे। लेकिन आजादी मिलने के बाद अपनी परिकल्पना के अनुरूप गांवों की पुनर्चना करने का अवसर गांधी को सुलभ नहीं हुआ। उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने पश्चिमी उद्योग-शिल्प-मशीनीकरण को प्रमुखता देने में ही कृषि-प्रधान देश रहे भारत की उन्नति देखी।

संक्षेप में गाँधी के 'स्वराज' की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है। स्वराज का अर्थ केवल राजनीतिक स्तर पर विदेशी शासन से स्वाधीनता प्राप्त करना नहीं है, बल्कि इसमें सांस्कृतिक व नैतिक स्वाधीनता का विचार भी निहित है। यह राष्ट्र निर्माण में परस्पर सहयोग व मेल-मिलाप पर बल देता है। शासन के स्तर

पर यह 'सच्चे लोकतंत्र का पर्याय' है। गाँधी का स्वराज 'निर्धन का स्वराज' है, जो दीन-दुखियों के उद्धार के लिए प्रेरित करता है। यह आत्म-संयम, ग्राम-राज्य वसत्ता के विकेंद्रीकरण पर बल देता है। गाँधी ने सर्वोदय अर्थात् सर्व-कल्याण का समर्थन किया। अहिंसात्मकता समाज गाँधी की दृष्टि में आदर्श समाज-व्यवस्था वही हो सकती है, जो पूर्णतः अहिंसात्मक हो। जहाँ हिंसा का विचार ही लुप्त हो जाएगा, वहाँ दंड या 'बल-प्रयोग' की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी अर्थात् आदर्श समाज में राजनीतिक शक्ति या राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी। गाँधी हिंसा तथा शोषण पर आधारित वर्तमान राजनीतिक ढाँचे को समाप्त करके, उसके स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे, जो व्यक्ति की सहमति पर आधारित हो तथा जिसका उद्देश्य अहिंसात्मक तरीकों से जन-कल्याण में योगदान देना हो।

परिवेश के जरिये शहरों की समझ (Reading Cities through neighbourhood)

सामाजिक स्तरीकरण (Social hierarchy)

सामाजिक स्तरीकरण का प्रयोग समाज में मौजूद असमानता और क्रम-विन्यास का वर्णन करने के लिए किया जाता है जिससे समाज के विभेदीकरण की जानकारी हासिल करने में मदद मिलती है। समाजशास्त्र की इस अवधारणा को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : वह विभेदीकरण स्तरीकरण कहलाता है जिसका आधार क्रम-विन्यास है और जिसके तहत परिस्थितियों (स्टैटस या दर्जे) के हिसाब से ऊँचे और नीचे समझे जाने वाले समूहों का अध्ययन किया जाता है। समाज में व्यक्ति का

विभेदीकरण उम्र, चमड़ी के रंग और लिंग-भेद के आधार पर होता है, पर स्तरीकरण में जैवकीय भिन्नताओं के स्थान पर देखा यह जाता है कि पदों और परिस्थितियों के वितरण का स्वरूप क्या है और उससे हैसियत या दर्जे का क्या आधार बन रहा है। स्तरीकरण बनाये रखने में समाजीकरण की भूमिका मुख्य है, क्योंकि समाजीकरण की प्रक्रिया में ही व्यक्ति समाज में ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार करता है। उसी तरह जैसे परम्परागत भारतीय समाज में जातिप्रथा के अंतर्गत व्यक्ति जातियों के अपेक्षित व्यवहार-प्रतिमानों को सीखता और स्वीकार करता है।

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में और सभी कालखंडों में किसी न किसी रूप में रहा है। विभिन्न समाजों में सामाजिक-सांस्कृतिक कारक इसे अलग-अलग स्वरूप देते रहते हैं। भारत में जाति-प्रथा का रूप जन्म-आधारित है, जबकि वर्ग आधारित यूरोपीय समाजों में अर्जित गुणों के आधार पर ऊँच-नीच का भेद स्थापित होता है। जिन समाजों में प्रजातीयता के आधार पर स्तरीकरण होता है, वहाँ त्वचा के रंग को सर्वप्रमुख माना जाता है। ज़ाहिर है कि स्तरीकरण या सामाजिक श्रेणीबद्धता का कोई सार्वभौम नियम नहीं है। इसके सामाजिक परिणाम भी अलग-अलग होते हैं।

जीवन-अवसरों व जीवन-शैली पर इसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। बच्चों की शिक्षा व मृत्यु, बीमारियाँ, वैवाहिक संघर्ष, मानसिक अवसाद जैसे कारक जीवन-अवसरों से प्रभावित होते हैं। जबकि समाज में श्रेणी व स्तर के हिसाब से ही व्यक्ति को मकान, पड़ोस, मनोविनोद के साधन, भोजन, कीमती वस्तुएँ आदि प्राप्त होती हैं।

स्तरीकरण शब्द भू-विज्ञान से लिया गया है। यूनानी दार्शनिकों प्लेटो और अरस्तू ने भी इस पर विचार किया है। उनकी मान्यता है कि व्यक्ति प्रकृति से ही असमान होते हैं और उनकी हैसियत का निर्धारण कौशल, बुद्धिमत्ता और शारीरिक शक्ति पर निर्भर करता हूँ। ज़ाहिर है कि ये प्राचीन विचारक सामाजिक असमानता की ज़िम्मेदारी सीधे-सीधे प्राकृतिक असमानता पर डाल देते थे। यूरोप में ज्ञानोदय-काल के पश्चात मुख्य रूप से स्तरीकरण पर उसके सामाजिक कारण केंद्र में रख कर इस पर चर्चा आरंभ हुई। रूसो ने व्यक्तिगत संपत्ति को स्तरीकरण का मुख्य आधार माना और कार्ल मार्क्स ने भी निजी संपत्ति के आधार पर होने वाले वर्ग विभाजन को स्तरीकरण का आधार माना।

सामाजिक स्तरीकरण के मुख्यतः चार स्वरूप माने गये हैं : जाति, वर्ग-व्यवस्था दास-प्रथा और जागीरें। भारत में जाति-प्रथा के अंतर्गत जाति की सदस्यता जन्मजात मानी जाती थी और उसके सदस्यों को भोजन संबंधी व अन्य निषेधों का पालन करना होता था। जातियों का संबंध व्यवसायों से भी रहा है। यह जिस शास्त्रीय वर्णक्रम का अंग रही है उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के क्रम-विन्यास का निर्धारण किया गया। जाति में परिवर्तन की अनुमति नहीं रही है और जाति से भिन्न योग्यता होने पर भी जन्म की जाति को नकारना संभव नहीं रहा है। हालाँकि कुछ समाजशास्त्रियों, जैसे एम-एन श्रीनिवास, ने संस्कृतीकरण की अवधारणा के ज़रिये निम्न जातियों के मध्य सामाजिक गतिशीलता के ऐतिहासिक पक्ष का अध्ययन करके दिखाया है कि वर्ण-व्यवस्था की जड़ता के बावजूद संस्कार, शुद्धि या राजनीतिक बल

से निम्न जातियाँ अपने दर्जे को ऊँचा करने की कोशिश करती थीं। इसी प्रकार वर्ग-व्यवस्था में सामाजिक परिस्थिति की बुनियाद में धन-संपत्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और इसमें जन्मजात सदस्यता के स्थान पर निजी गुणों व प्रतिभा के आधार पर वर्ग-विकास को महत्व देने का चलन होता है।

एक ही वर्ग के सदस्यों के मध्य वैवाहिक और सामाजिक संबंध बनते हैं और उनकी उपसंस्कृति बन जाती है। इसके अलावा दास-प्रथा भी स्तरीकरण का आधार रही है। दासों को प्राचीन यूनानी और रोमन साम्राज्य में कानूनन अधिकारविहीन रखा जाता था। मालिकों के सामाजिक स्तर की तुलना में वे काफी निम्न माने जाते थे। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी भाग में भी दास-प्रथा का चलन था। स्तरीकरण के रूप में दास-प्रथा एक आदिम व्यवस्था मानी जाती है। मध्यकाल में यूरोप में पायी जाने वाली जागीरें भी बड़े पैमाने पर लोगों के मध्य सामाजिक विभेदीकरण पैदा करती थीं और लोग भिन्न-भिन्न स्तरों में विभक्त रहते थे। इसे भी परंपरा व कानून की मान्यता मिली हुई थी। इनके तीन वर्ग होते थे : पादरी, राजासरदार और आम जनता। चर्च के मुखिया के रूप में पादरियों को काफी सामाजिक अधिकार मिले हुए थे और इन्हें समाज में भी ऊँचा दर्जा प्राप्त था। हालाँकि राजाओं को पादरियों से ऊपर गिना जाता था, पर पादरियों का सामाजिक रुतबा उनकी उच्च-परिस्थिति का आधार था।

सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या के लिए दो प्रमुख सैद्धांतिक दृष्टिकोणों का प्रयोग किया गया है : प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण और द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण। प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक टैलकॉट पार्संस, किंग्सले डेविस

और विल्बर्ट ई- मूर जैसे समाजशास्त्री हैं। इन लोगों ने स्तरीकरण यानी सामाजिक असमानता को उचित ठहराने के तर्क दिये हैं। उदाहरण के लिए पार्संस का मत है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज के लिए अनिवार्य है क्योंकि समाज को विभिन्न योग्यता और कार्य-दक्षता वाले लोगों की आवश्यकता पड़ती है। अलग-अलग योग्यता के हिसाब से लोगों को सम्मान व पारिश्रमिक मिलता है। हर समाज को अपने अस्तित्व और विकास के लिए खास मूल्यव्यवस्था बनानी होती है जो समाज के सभी सदस्यों की सर्वसम्मति पर आधारित होती है। इन्हीं मूल्यों या पैमाने पर व्यक्ति की योग्यता की जाँच कर उसकी सामाजिक हैसियत तय की जाती है। पार्संस के अनुसार इससे समाज में तनाव या द्वंद्व नहीं बल्कि एकता पैदा होती है क्योंकि लोग यह मानकर आश्वस्त रहते हैं कि उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार ही काम मिल रहा है और कार्यकुशलता और क्षमता बढ़ाने की प्रेरणा भी मिलती है। इस सिद्धांत के अनुसार स्तरीकरण भिन्न-भिन्न प्रतिभा वाले लोगों को भिन्न हैसियत देकर उनकी योग्यता का सम्मान करता है। सबसे महत्वपूर्ण पदों पर सबसे योग्य लोगों को आसीन करने का भी यही एकमात्र सही तरीका है। प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण में यह भी माना जाता है कि कोई भी समाज वर्गहीन अथवा बगैर स्तरीकरण के नहीं हो सकता और सभी जटिल समाजों के लिए सामाजिक स्तरीकरण अनिवार्य है। किंग्सले डेविस और विल्बर्ट मूर जैसे समाजशास्त्रियों का मत है कि समाज में कम सुलभ और विशेषज्ञतापूर्ण पदों के लिए अधिक सम्मान-पुरस्कार मिलता है क्योंकि ऐसे कार्य करने के लिए योग्य व्यक्ति अधिक संख्या में नहीं मिलते हैं। इस विषय में मैक्स वेबर जैसे विचारकों का सोच भी महत्वपूर्ण है जो मानते हैं कि समाज में वर्ग, परिस्थिति

समूह और दल के आधार पर स्तरीकरण होता है। वेबर ने परिस्थिति को सम्मान का पर्याय माना है जो वर्ग से कई बार मुक्त होती है। मसलन, आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों को समाज में कम सम्मान मिल सकता है, और किसी अच्छे प्रतिष्ठापूर्ण मध्यवर्गीय व्यवसाय करने वाले व्यक्ति को अधिक सम्मान प्राप्त हो सकता है।

दूसरी ओर सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में द्वंद्वात्मक या संघर्षात्मक सिद्धांत है जिसने इस बारे में प्रकार्यात्मक सिद्धांत की कड़ी आलोचना विकसित की है। प्रकार्यात्मक सिद्धांत जहाँ सामाजिक स्तरीकरण को समाज की ज़रूरत बताता है, वहीं संघर्षात्मक सिद्धांत इसे वर्ग व समुदाय की दृष्टि से देखता है और मानता है कि असमानता पूरे समाज की आवश्यकता नहीं बल्कि खास उच्च वर्ग की आवश्यकता है और उसके हितों की पूर्ति का माध्यम है। संघर्षात्मक सिद्धांत के प्रमुख प्रणेता कार्ल मार्क्स का मानना है कि मानव समाज का पूरा इतिहास ही वर्ग संघर्ष का इतिहास है और पूँजीवादी समाज स्तरीकृत यानी विषमतामूलक समाज का अंतिम अध्याय होगा।

प्रकार्यात्मक सिद्धांतकार समाज में शक्ति, सम्मान व पद के विभाजन को हानिकारक या आपत्तिजनक नहीं मानते, वहीं संघर्षात्मक सिद्धांतकारों का मानना है कि समाज में मौजूद वर्गगत असमानता उसके विकास में बाधक होती है और वर्ग-संघर्ष सामाजिक परिवर्तन का मुख्य स्रोत है।

संघर्षात्मक सिद्धांत के एक अन्य महत्वपूर्ण समर्थक सी-राइट मिल्स हैं जिन्होंने अमेरिकी समाज के अभिजनों की सत्ता पर प्रकाश डाला है। अपनी प्रख्यात पुस्तक द पॉवर इलीट में उन्होंने बताया है कि किस प्रकार तीन शक्तिशाली संगठन औद्योगिक प्रतिष्ठान, सेना और संघीय सरकार मिल कर अमेरिका को नियंत्रित करते हैं और राजनीति में अपने किसी विकल्प को नहीं उभरने देते। मार्क्स से थोड़ा अलग मिल्स, गेरहार्ड लास्की और आर-डैहरेनडौर्फ जैसे विचारकों ने वर्ग के स्थान पर शक्ति की धारणा का प्रयोग अधिक किया है। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत विचारधारा की भूमिका का भी अध्ययन किया गया है जिसका प्रयोग समाज के प्रभावशाली समूह अपने प्रभुत्व को बनाये रखने और सामाजिक स्तरीकरण के रूप में मौजूद विषमता न्यायोचित ठहराने के लिए करते हैं।

मौखिक आख्यान (Oral narratives)

आमतौर पर, लिखित प्रमाण या साक्ष्य के रूप में अपने वृत्तांत, को दर्ज करने से पहले, लोग कहानी बताने एवं कहने के माध्यम से पीढ़ी से पीढ़ी तक संसूचनाएँ और जानकारी छोड़कर आगे बढ़ गये। आज भी यह प्रचलन में है। क्या आपको ऐसा नहीं लगता? यदि आपको स्मरण हो, तो आपको इस बात का एहसास भी होगा कि आपको अपने दादा-दादी, माता-पिता, परिवार के अन्य सदस्यों या यहाँ तक कि समाज के महत्वपूर्ण लोगों की जीवनशैली और जीवन के बारे में मुहँ-जुबानी पता चली है। संभवतया, आपने या तो उन्हें अपने बारे में किसी से बात करते हुए सुना होगा या अन्य लोगों के बारे में। इसलिए, इसे समझना बहुत मुश्किल नहीं है कि मौखिक प्रमाण या साक्ष्य को

सबूत का एक महत्वपूर्ण स्रोत क्यों माना जाना चाहिए। लेकिन, यह भी सच है कि इसे हमेशा ही न तो आवश्यक और महत्वपूर्ण नहीं माना जाता है और न ही मान्यता-प्राप्त। यह सिर्फ इसलिए है क्योंकि अतीत में कई इतिहासकार मौखिक प्रमाण या साक्ष्य को अविश्वसनीय मानते थे और वे लिखित साक्ष्य और प्रमाण पर भरोसा करना ज्यादा पसंद करते थे। उनका मानना था कि कहानी बदल जाती है क्योंकि इसे कई मुंह से गुजरना पड़ता था और सबसे ऊपर, कहानी की विश्वसनीयता को सुनिश्चित करने का कोई और तरीका नहीं था। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि लिखित स्रोत ज्यादातर महत्वपूर्ण , अमीर के विवरण को दर्ज करने के लिए पाए जाते हैं साधारण लोगों जिसमें गायब हो जाते हैं परिणामस्वरूप, आम लोगों के जीवन के बारे में बहुत सारी जानकारी खो गई।

हालांकि, मौखिक प्राचीन कथा और इतिहास पूरी तरह से मूल विचार और सीमा रेखा से बाहर नहीं गया है। बहुत सारे प्रमाण बच गये हैं, हालांकि लिखित रूप में साक्ष्य परिरक्षित किये गये हैं। जैसा कि कैथरीन इसाबेल लिटिलजोन, एक रिसर्च स्कॉलर ने अपने शोध में लिखा है, “द इंडियन ओरल ट्रेडिशन: ए मॉडल फॉर टीचर्स”, “मौखिक परंपरा का उपयोग स्रोत के रूप में कोई नया विचार नहीं है। उपयोग करने के लिए सबसे परिचित पुस्तक बाइबिल है। सुकरात ने मौखिक और लिखित स्रोतों के बीच मूल्यों के टकराव का बहुत ही कठिनाइयों और समस्याओं के साथ संघर्ष किया था। हेरोडोटस, जो ‘फादर ऑफ हिस्ट्री’, के समर्थक रहे हैं उन्होंने भी फारसी युद्धों के इतिहास में मौखिक स्रोतों का इस्तेमाल किया है।” महान महाकाव्य

महाभारत के मुताबिक, भगवान कृष्ण का कुरुक्षेत्र में युद्ध के मैदान में, अर्जुन से विचारों और भावनाओं को व्यक्त करना मौखिक स्रोतों की ही श्रेणी में आता है। भगवत् गीता में इनका उदाहरण मिलता है, जो भारत में मौखिक रीति-रिवाजों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। पूर्व ईसाई युग (बीसीई) में भी सैकड़ों वर्षों से मौखिक रूप से ये प्रसारित हुए थे। लगभग 20वीं सदी के आस-पास, टेलीफोन और रिकॉर्डिंग उपकरण के आविष्कार से मौखिक गवाही का उपयोग आसान हो गया। लोगों का साक्षात्कार लेना इससे पहले कभी भी इतना आसान नहीं था। उनके विचार, विश्वास, विचार और अनुभव आने वाली पीढ़ियों के लिए दर्ज किए जा सकते हैं।

मौखिक इतिहास क्या होता है? किसी व्यक्ति द्वारा अपने अतीत में बीती पहले की घटनाओं, वृत्तांतों और वारदातों के वर्णन को 'मौखिक इतिहास' माना जाता है। अधिकांशतः, इन घटनाओं, वृत्तांतों और वारदातों को वृद्ध लोगों, परिवार के सदस्यों, इतिहासकारों, संग्रहकर्ताओं या अन्य लोगों के साक्षात्कार के माध्यम से मालूम किया जाता है। इसे घटनाओं और जीवन के लिखित प्रमाण और प्रलेख बनाने का एक प्रयास माना गया है जिसे अन्यथा भुला दिया जाता और अतीत में लुप्त या खोया हुआ मान लिया जा सकता था।

यह सच है कि मौखिक इतिहास बहुत मूल्यवान हैं। लेकिन जब भी हम उन्हें प्राथमिक स्रोतों के रूप में उपयोग करते हैं, तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्मृतियों को आमतौर पर कमजोर मान लिया जाता है। क्योंकि अधिकांश इतिहासकारों का मानना है कि घटनाओं, वृत्तांतों और वर्षों के अंतराल एवं उन घटनाओं के दोबारा होने के बीच में, कोई व्यक्ति दूसरों की घटनाओं के

साथ-साथ किताबों या यहाँ तक कि फिल्मों की घटनाओं से भी प्रभावित हो सकता है। सामान्य तौर पर, यह भी माना जाता है कि घटनाएँ समय के जितना करीब होती हैं, उन्हें उतना ही विश्वसनीय (मौखिक प्रमाण) मान लिया जाता है।

एसेक्स विश्वविद्यालय, इंग्लैंड के एक शोध प्रोफेसर, पॉल थॉम्पसन, जिन्होंने ब्रिटिश मौखिक इतिहास संस्था ओरल हिस्ट्री सोसाइटी और अंतरराष्ट्रीय मौखिक इतिहास आंदोलन के निर्माण में एक प्रमुख भूमिका निभाई, अपनी क्लासिक पाठ्यपुस्तक बुक 'द वॉइस ऑफ द पास्ट' में लिखते हैं कि अभी हाल ही में यह पता चला है कि मौखिक साक्ष्य को संभालने का कौशलकार्य महान इतिहासकार तक ही सिमट कर रह गया है।

इसलिए, अपने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से 'मौखिक इतिहास' (ओरल हिस्ट्री) को समझना प्रासंगिक और उचित है। मौखिक इतिहास अतीत के बारे में सबूत, प्रमाण और साक्ष्यों को एकत्र करने का एक तरीका होता है, और इस बारे में भी, कि किस प्रकार से अतीत वर्तमान से जुड़ा हुआ होता है। मौखिक इतिहास उन लोगों और घटनाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने में आवश्यक और एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जहाँ पर कम प्रलेखन, साक्ष्य और दस्तावेज होते हैं, या सबूतों के कोई अन्य स्रोत उपलब्ध हैं। यह माना जाता है कि मौखिक इतिहास का संग्रह कार्य और व्याख्या करना अंतरंग रूप से स्मृतियों (मेमोरी) के कामकाज से अंतरंग रूप से जुड़ा हुआ होता है। व्यक्तियों के साथ साक्षात्कार करते समये अनिवार्य रूप से ऐसे

सवालों पर ध्यान दिया जाता है कि कैसे और क्यों व्यक्तियों के साथ-साथ उनके समुदायों को यह याद रहता है कि वे कैसे हैं, वे क्या कर रहे हैं।

मौखिक इतिहास के सभी पहलुओं का गहनता के साथ और पूरी तरह से व्यावहारिक और सैद्धांतिक ज्ञान रखने के लिए, ऐतिहासिक संसाधनों के रूप में मौखिक साक्षात्कार को समझने की आवश्यकता है-

1) मौखिक इतिहास का विकास किस प्रकार से हुआ है, यह वहाँ कैसे विकसित हुआ है, जहाँ मौखिक इतिहास ऐतिहासिक संसाधनों के नियमों और मानदण्डों में निहित रहता है, और जब ऐतिहासिक स्रोत के रूप में इसका मूल्यांकन किया जाता है, उस समय समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

2) स्मृति कैसे काम करती है, व्यक्तियों के कामकाज और क्रियाकलाप कैसे होते हैं और सामूहिक स्मृतियाँ कैसे प्रभावित करती हैं, लोग अतीत के बारे में कैसे बात करते हैं, और अतीत को वर्तमान के साथ कैसे जोड़ते हैं?

3) एक मौखिक इतिहास साक्षात्कार की योजना, संचालन, और संग्रह करना।

4) विभिन्न समुदायों के साथ मौखिक इतिहास बनाने के व्यावहारिक और सैद्धांतिक मुद्दे।

5) विशिष्ट क्षेत्रों में स्वतंत्रता के बाद के विकास, विभिन्न समुदायों के जीवन, स्वतंत्रता संग्राम आंदोलन की यादें और स्मृतियों जैसे मौखिक इतिहास और जीवन की व्याख्या के व्यावहारिक और सैद्धांतिक मुद्दों को शहरी जीवन के विभिन्न पहलुओं के मौखिक इतिहास के संदर्भ में खोजा जाएगा।

भाषायी साम्राज्यवाद (Linguistic imperialism)

भाषाई साम्राज्यवाद या भाषा साम्राज्यवाद को कभी-कभी "अन्य लोगों के लिए एक प्रमुख भाषा के हस्तांतरण" के रूप में परिभाषित किया जाता है। यह भाषा "हस्तांतरण" (या बल्कि एकतरफा थोपना) साम्राज्यवाद के कारण आता है। स्थानांतरण को शक्ति का संकेत माना जाता है; परंपरागत रूप से सैन्य शक्ति लेकिन आधुनिक दुनिया में आर्थिक शक्ति भी भाषायी साम्राज्यवाद का प्रमुख वाहन है। वर्चस्वशाली संस्कृति के पहलुओं को आमतौर पर भाषा के साथ स्थानांतरित कर दिया जाता है। आधुनिक दुनिया में, भाषाई साम्राज्यवाद को अंतरराष्ट्रीय विकास के संदर्भ में भी माना जा सकता है।

1990 के दशक की शुरुआत से, भाषाई साम्राज्यवाद ने अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान के विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। विशेष रूप से, रॉबर्ट फिलिप्सन की 1992 की पुस्तक, भाषाई साम्राज्यवाद ने इसके गुणों और कमियों के बारे में काफी बहस की है।

भाषाई साम्राज्यवाद भाषावाद का एक रूप है जो दमनकारी भाषा और उसके बोलने वालों को लाभ और शक्ति प्रदान करता है। फिलिप्सन के अनुसार भाषाई साम्राज्यवाद की विशेषताएं इस प्रकार हैं:

यह नस्लवाद और लिंगवाद की तरह ही भाषावाद के रूप में दमनकारी भाषा के पक्ष में प्रकट होता है। यह इस विश्वास को प्रोत्साहित करता है कि दमनकारी भाषा रूप दूसरी भाषाओं की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित है। जैसे संस्कृति, शिक्षा, मीडिया और राजनीति साम्राज्यवाद से जुड़ी होती हैं उसी

तरह भाषायी साम्राज्यवाद भी साम्राज्यवाद का अंग है। दमनकारी भाषा का उपयोग करने वालों और नहीं करने वालों के बीच अन्याय और असमानता का कारण बनता है। साम्राज्यवादी भाषा स्थानीय भाषाओं पर बुरा प्रभाव डालती है और इसे दूसरी भाषाओं की कीमत पर सीखा जाता है। फिलिप्सन ने अंग्रेजी भाषाई साम्राज्यवाद को अंग्रेजी के प्रभुत्व के रूप में परिभाषित किया है। अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के बीच संरचनात्मक और सांस्कृतिक असमानताओं की स्थापना और निरंतर पुनर्गठन द्वारा जोर दिया और बनाए रखा। अंग्रेजी को अक्सर दुनिया भर में "लिंगुआ फ्रेंका" यानी बोलचाल की भाषा कहा जाता है, लेकिन फिलिप्सन का तर्क है कि जब इसका प्रभुत्व अन्य भाषाओं को हत्या की ओर ले जाता है, तो उसके विचार से इसे "लिंगुआ फ्रेंकस्टीनिया" यानी अन्य भाषाओं को खा जाने वाला दैत्य कहना अधिक उपयुक्त होगा।

फिलिप्सन के सिद्धांत का एक केंद्रीय विषय जटिल वर्चस्ववादी प्रक्रियाएं हैं, इसी वजह से आज भी दुनिया में अंग्रेजी की श्रेष्ठता को बनाए रखना जारी है। उनकी पुस्तक अंग्रेजी को बढ़ावा देने के लिए ब्रिटिश काउंसिल के बयानों का विश्लेषण करती है, और अंग्रेजी अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान और अंग्रेजी-भाषा-शिक्षण पद्धति के प्रमुख सिद्धांतों पर चर्चा करती है। फिलिप्सन के अनुसार, जो लोग अंग्रेजी को बढ़ावा देते हैं - ब्रिटिश काउंसिल, आईएमएफ और विश्व बैंक जैसे संगठन, और अंग्रेजी भाषा के स्कूलों के संचालक जैसे व्यक्ति- तीन प्रकार के तर्क का उपयोग करते हैं:

- **आंतरिक तर्क-** अंग्रेजी भाषा को "समृद्ध", "महान" और "दिलचस्प" के रूप में वर्णित करते हैं। इस तरह के तर्क इस बात पर जोर देते हैं कि अंग्रेजी क्या है और अन्य भाषाएं क्या नहीं हैं।
- **बाहरी तर्क-** बताते हैं कि अंग्रेजी अच्छी तरह से स्थापित है: इसमें कई वक्ता हैं, और प्रशिक्षित शिक्षक हैं और शिक्षण सामग्री का खजाना है।
- **कार्यात्मक तर्क-** दुनिया के प्रवेश द्वार के रूप में अंग्रेजी की उपयोगिता पर जोर देते हैं।

इस तरह से साम्राज्यवाद सिर्फ आर्थिक वर्चस्व का ही नहीं बल्कि भाषायी वर्चस्व का इस्तेमाल करता है।

शहरी पर्यावरण (Urban Environment)

पारिस्थितिकी (Ecology)

पारिस्थितिकी को जीव विज्ञान की शाखा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो जीवों के एक दूसरे के साथ संबंधों और उनके भौतिक परिवेशों की चर्चा करता है। इसे जीवों के मध्य अन्तःक्रिया और उनके परिवेश के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। पारिस्थितिकी शब्द का वास्तविक अर्थ “घर का अध्ययन” है। पारिस्थितिकी एक बहुआयामी विज्ञान है एवं विज्ञान की अन्य शाखाओं जैसे भूगोल, भूविज्ञान, मौसम विज्ञान, भूतत्व, भौतिकी और रसायन विज्ञान के साथ इसका संबंध है।

पर्यावरण (परि+आवरण) शब्द का शाब्दिक अर्थ है हमारे चारों ओर का घेरा अर्थात् हमारे चारों ओर का वातावरण जिसमें सभी जीवित प्राणी रहते हैं। पर्यावरण का अंग्रेजी शब्द एनवॉयरमेंट है जो फ्रेंच भाषा के शब्द एनवॉयरनर से बना है, जिसका अर्थ है 'घेरना।' अतः पर्यावरण के अन्तर्गत किसी जीव के चारों ओर उपस्थित जैविक तथा अजैविक पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है।

पारिस्थितिकी पर्यावरण अध्ययन का वह भाग है जिसमें हम जीवों, पौधों और जन्तुओं और उनके संबंधों या अन्य जीवित या गैर जीवित पर्यावरण पर परस्पराधीनता के बारे में अध्ययन करते हैं।

पारिस्थितिकी दो शब्दों से मिल कर बना है जो ग्रीक शब्द “ Oekologue” से लिया गया है: (a) ‘Oekos’ का अर्थ घेराव/ आस पास का क्षेत्र (b) ‘Logs’ का अर्थ एक पूरे पारिस्थितिकी पर अध्ययन मतलब ‘घेराव /आस पास का अध्ययन’

पारिस्थितिक अध्ययन सम्बंधित है: वातावरण में ऊर्जा और पदार्थों के प्रवाह के से, प्रकृति इसके क्रियाकलाप से तथा पर्यावरण के जैविक और अजैविक घटकों के बीच विभिन्न पदार्थों के आदान प्रदान से । उदाहरणतः भू जैव रासायनिक चक्र।

विज्ञान की अन्य शाखाओं के साथ यह अंतर-संबंध इसे विज्ञान की एक सबसे महत्वपूर्ण शाखा बनाता है। पारिस्थितिकी जीवन के सभी पहलुओं, छोटे जीवाणुओं से लेकर पूरे ग्रह के विस्तार की प्रक्रियाओं तक, के बारे में चर्चा

करती है। पारिस्थिति विज्ञानिकों के अध्ययन के अनुसार प्रजातियों में परभक्षण और परागण जैसी अनेक असमानतायें और जटिल संबंध पाये जाते हैं। जीवन की विविधता स्थलीय (मध्य) से लेकर जलीय परिस्थितिकी प्रणालियों तक अलग अलग निवासों में सुनियोजित है।

पारिस्थितिकी वातावरण, पर्यावरणवाद, प्राकृतिक इतिहास या पर्यावरण विज्ञान का पर्याय नहीं है। इसका विकासवादी जीव विज्ञान, आनुवंशिकी और आचार विज्ञान से घनिष्ठ संबंध है। साथ ही साथ पारिस्थितिकी एक मानव विज्ञान भी है। जीव संरक्षण पारिस्थितिकी के कई व्यावहारिक उपयोग हैं। संरक्षण जीव विज्ञान, आद्रभूमि प्रबंधन, प्राकृतिक संसाधन (कृषि पारिस्थितिकी, कृषि, वानिकी, कृषि वानिकी, मत्स्य पालन), नगर नियोजन (शहरी पारिस्थितिकी), सामुदायिक स्वास्थ्य, अर्थशास्त्र, बुनियादी और अनुप्रयुक्त विज्ञान, और मानव सामाजिक संपर्क (मानव पारिस्थिकी) में पारिस्थितिकी के कई व्यावहारिक उपयोग हैं।

उदाहरण के तौर पर, स्थिरता दृष्टिकोण का चक्र पर्यावरण की तुलना में पारिस्थितिकी को अधिक मानते हैं। इसे मानव से अलग नहीं समझा जाता है। जीव (मानव सहित) और पारिस्थितिक तंत्र रचना के संसाधनों के परिणाम स्वरूप, जैव भौतिकी प्रतिक्रिया तंत्र को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए जो ग्रह के जैविक और अजैविक घटकों पर किए गए प्रक्रिया को नियंत्रित करता है। पारिस्थितिक तंत्र जीवन के समर्थक कार्यों को बनाए रखता है, और बायोमास उत्पाद (खाद्य, ईंधन, फाइबर, और औषधि), जलवायु नियंत्रण, वैश्विक भू-जैव रसायनिक चक्र, पानी का छनना, मृदा निर्माण, कटाव

नियंत्रण, बाढ़ सुरक्षा और वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, आर्थिक या आंतरिक मूल्य के कई अन्य प्राकृतिक विशेषताओं, जैसे प्राकृतिक पूंजी का उत्पादन करता है।

शहरीकरण या नगरीकरण (Urbanization)

विश्व में शहरों की उत्पत्ति आज से करीब 5000 ईसा पूर्व में देखी गई, जो विभिन्न नदी घाटियों में सभ्यता के विकास के साथ उपयुक्त स्थल पर स्थायी मानवीय निवास के रूप में विकसित हुई। नील नदी की घाटी में मेमफिस शहर, दजला-फरात के संगम पर मेसोपोटामिया शहर, उत्तरी अमेरिका में माया व दक्षिणी अमेरिका में इन्का सभ्यता, सिन्धु नदी घाटी में मोहनजोदड़ो व हड़प्पा की सभ्यता शहरी जीवन पर आधारित थी। यूरोप में ग्रीक व रोमन सभ्यता में बेबीलोन शहर का विकास हुआ। भारत में प्राचीन काल में पाटलीपुत्र, उज्जैन, कन्नौज, बनारस, मथुरा आदि नगरों का विकास हुआ। प्राचीन काल से नगर आर्थिक व राजनैतिक केंद्र के रूप में स्थापित थे जहाँ साम्राज्य की राजधानी के साथ व्यापार का तीव्र विकास लोगों के लिये नगरीय आकर्षण को बढ़ाता था, जिससे लोग नगर की ओर प्रवसन करते थे। आज भी स्थितियाँ बदली नहीं हैं बल्कि इस प्रवृत्ति में तीव्रता आई है।

नगरीय क्षेत्र की परिभाषा एक देश से दूसरे देश में भिन्न है। नगरीय क्षेत्र की श्रेणी में आने के लिये जनसंख्या के निचले आकार की सीमा कोलंबिया में 1500, यू.एस.ए. में 2500, अर्जेन्टीना व पुर्तगाल में 2000 तथा भारत में यह संख्या 5000 है। भारत में जनसंख्या के अतिरिक्त नगरीय क्षेत्र के लिये जनसंख्या घनत्व 400 व्यक्ति प्रति वर्ग कि.मी. के साथ जनसंख्या के 75%

भाग का गैर कृषि कार्यों में संलग्न होना आवश्यक है। आर.ई. डिकिनसन के अनुसार, नगर को उनके कार्यों द्वारा पहचाना जा सकता है जिसके कारण नगर के समीपवर्ती प्रदेश में रहने वाले लोग नगर की ओर आकर्षित होते हैं। इससे स्पष्ट है कि नगर वह बस्ती है जिसका जन्म अचानक नहीं होता बल्कि कुछ निश्चित कार्यों एवं सेवाओं की उपलब्धता के कारण ही वह नगर का रूप धारण करता है। वहीं नगरीकरण शहरी क्षेत्रों के भौतिक विस्तार तथा लोगों की जीवनशैली में परिवर्तन से संबंधित है। संयुक्त राष्ट्र संघ की परिभाषा के अनुसार, ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों का शहरों में जाकर रहना व काम करना ही नगरीकरण है।

शहरों की चकाचौंध भरी ज़िंदगी आज हर व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर रही है। नगरों में शिक्षा, रोज़गार, चिकित्सा एवं अन्य सुख-सुविधाओं की उपलब्धता लोगों को एक संसाधन के रूप में विकसित कर उन्हें आर्थिक रूप से समृद्ध बनाती है। इसी आकर्षण के कारण नगरों की जनसंख्या में तीव्र वृद्धि देखी जा रही है।

नगर आज उस चमन के समान है जिसने अपने आसपास के क्षेत्र से सभी सुख-सुविधाओं को एकत्रित कर अपने में समाहित किया है। आज व्यक्ति की हर आवश्यकता चाहे वह मूलभूत आवश्यकता- रोटी, कपड़ा और मकान की हो या शिक्षा की या उसके स्वास्थ्य की, इन सभी के संबंध में नगर व्यक्ति को एक उत्तम जीवनशैली देने में सक्षम है, इसलिये नगरीकरण एक छिपे हुए वरदान के रूप में है। नगरीकरण ने एक नई सभ्यता व संस्कृति को जन्म दिया है। इसने नगरों के भौतिक क्षेत्रफल में विस्तार के साथ लम्बवत विचार

के रूप में बहुमंजिली इमारतें, आधुनिक सुख-सुविधाओं के साथ घर व लोगों के मनोरंजन के लिये क्लब, गार्डन तथा मनोरंजन पार्क के साथ मल्टीप्लेक्स तथा मॉल कल्चर को विकसित किया है। आज व्यस्त जीवनशैली के कारण लोगों के पास अपने रहने के लिये मकान बनाने तक का समय नहीं है। साथ ही नगर में स्थान की कमी के कारण विभिन्न रीयल एस्टेट डेवलपर ने बहुमंजिली इमारतों को आधुनिक सुख-सुविधाओं के साथ विकसित किया है, जिसे लोग अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार खरीदकर रहते हैं।

शिक्षा की उच्च व्यवस्था के कारण नगर के लोग अपने जीवन को सुखी व समृद्ध बनाने का काम करते हैं। वहीं आज प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तथा तकनीकी शिक्षा के सभी बड़े केंद्र नगरों में ही स्थित हैं। नगरीय क्षेत्र में चिकित्सा की उचित व्यवस्था ने विकसित व विकासशील देशों में मृत्यु दर पर नियंत्रण के साथ विभिन्न रोगों के निदान व उपचार के क्षेत्र में तीव्र प्रगति की है।

वैश्विक स्तर पर औद्योगीकरण के विकास ने नगरीकरण के विस्तार में तीव्रता प्रदान की। नगरीय क्षेत्रों में ही सामान्यतः औद्योगिक केंद्र स्थापित होते हैं क्योंकि नगर उद्योगों को आधारीय संरचना के साथ, तकनीकी कुशल व्यक्ति, विद्युत, कनेक्टिविटी, पूंजी आदि की आपूर्ति सुनिश्चित करता है। इसके साथ नगर में कानून व्यवस्था की उचित व्यवस्था नगरीय केंद्रों को ही औद्योगिक केंद्र के रूप में विकसित करती है। यही स्थानीय नागरिकों को उनकी रोज़गार की आवश्यकता की पूर्ति करता है। यह उनके लिये एक वरदान से कम नहीं होता है।

अर्थशास्त्र की अनिवार्यता (Essentials of Economics)

समष्टि अर्थशास्त्र (Macroeconomics)

समष्टि शब्द के मूल को जान लेने से ही हम इसके अर्थ को जान सकते हैं। यह शब्द ग्रीक के मैक्रोस (Macros) शब्द से लिया गया है जिसका उस भाषा में अर्थ बड़ा (Large) है। अतः समष्टि अर्थशास्त्र से अभिप्राय व्यापक स्तर पर संपूर्ण अर्थव्यवस्था का विश्लेषण करना है। समष्टि अर्थशास्त्र विशिष्ट इकाइयों का अध्ययन करके, संपूर्ण अर्थव्यवस्था के कुल योगों का अध्ययन करता है। अतः इसे कुल योग संबंधी अथवा सामूहिक अर्थशास्त्र भी कहते हैं।

समष्टि अर्थशास्त्र (मैक्रो इकनॉमिक्स) आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जिसमें समुच्चय का विश्लेषण संपूर्ण अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में किया जाता है। समष्टि अर्थशास्त्र में समस्त आर्थिक क्रियाओं का संपूर्ण रूप से अध्ययन किया जाता है। राष्ट्रीय आय, उत्पादन, रोजगार/बेरोजगारी, व्यापार चक्र, सामान्य कीमत स्तर, मुद्रा संकुचन, आर्थिक विकास, अंतरराष्ट्रीय व्यापार, आदि इसकी आर्थिक क्रियाएँ हैं जिनका विश्लेषण इसके अंतर्गत किया जाता है।

समष्टि अर्थशास्त्र, विश्लेषण प्रकृति में योगात्मक है। यह एक व्यक्तिगत इकाई के रूप में राष्ट्र के व्यवहार का अध्ययन करता है। सबसे महत्वपूर्ण मैक्रोइकॉनॉमिक्स चर हैं राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय निवेशमुद्रा की क्रय शक्ति में बदल, मुद्रास्फीति और संकुचन, अर्थव्यवस्था में रोजगार का स्तर, बजटीय सरकार की नीति और देश के भुगतान संतुलन और विदेशी मुद्रा।

मैक्रोइकॉनॉमिक्स अर्थव्यवस्था एक पूरे रूप में संचालन का विश्लेषण करती है। यह अर्थव्यवस्था के प्रदर्शन में सुधार करने के लिए नीतियों की सिफारिश करती है।

दोन्बुश और फिशर के अनुसार, "मैक्रोइकॉनॉमिक्स बूम्स और मंदी के साथ एक पूरे के रूप में अर्थव्यवस्था के व्यवहार से चिंतित है, अर्थव्यवस्था के कुल माल और सेवाओं के उत्पादन और उत्पादन की वृद्धि, मुद्रास्फीति और बेरोजगारी की दर, भुगतान और मुद्रा के संतुलन।"

यह मैक्रोइकॉनॉमिक्स की विषय वस्तु राष्ट्रीय आय और रोजगार और अल्पावधि में अपने उतार चढ़ाव है कि उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है। सामान्य मूल्य स्तर बढ़ जाता है और अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति का कारण बनता क्यों है यह भी बताते हैं। आधुनिक अर्थव्यवस्था को आर्थिक विकास कहा जाता है जो कम समय में उत्पादन क्षमता और राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है, जो कि निर्धारित कारकों का विश्लेषण कहा जाता है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र (Microeconomics)

व्यष्टि का अर्थ है -छोटा, सूक्ष्म अतः जब अध्ययन अथवा समस्या एक इकाई या अर्थव्यवस्था के एक भाग से संबंधित होता है तो इस अध्ययन विषय को व्यष्टि अर्थशास्त्र कहा जाता है। समष्टि का अर्थ है-बड़ा। इस प्रकार जब अध्ययन संपूर्ण अर्थव्यवस्था अथवा संपूर्ण अर्थव्यवस्था के समुच्चयों से संबंधित होता है तो इस अध्ययन विषय को समष्टि अर्थशास्त्र कहा जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक क्रिया की एक इकाई अथवा अर्थव्यवस्था की एक इकाई के भाग या एक से अधिक इकाई के छोटे समूह का अध्ययन है। ग्रीक

शब्द 'माइक्रोस' से लिए गए शब्द "माइक्रोस" का अर्थ है छोटा-यह व्यक्तिगत आर्थिक एजेंट के व्यवहार से संबंधित है तथा वस्तुओं और सेवाओं की कीमत निर्धारण की क्रियाओं का नतीजा है। इस प्रकार इसे "मूल्य सिद्धांत" भी कहा जाता है।

अर्थव्यवस्था की सूक्ष्म जानकारी किसी व्यक्ति, फर्म, घरेलू कार्य आदि की नीति निर्धारण में सहायक होती है (उत्पादन, उपभोग, मूल्य निर्धारण, मजदूरी दर आदि) में सहायता मिलती है। इस अध्ययन का उद्देश्य है कि उत्पादन, विनिमय और वस्तुओं के वितरण के व्यवहार प्रारूप और अंतर्संबंधों के विषय में भविष्यवाणी की जा सके। इस प्रकार, व्यक्तिगत आर्थिक इकाइयों के दृष्टिकोण से, संतुलन की स्थिति को प्राप्त करना व्यक्तिगत अर्थशास्त्र का उद्देश्य है।

इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यक्तियों के व्यवहार प्रारूपों तथा फर्मों की आय वितरण, उत्पादन दक्षता और समग्र दक्षता प्राप्ति पर जोर देता है। दक्षता का अर्थ है उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच संसाधनों का अनुकूलतम आबंटन। जिससे वस्तुओं और सेवाओं की न अत्यधिक मांग और न अत्यधिक आपूर्ति। अर्थव्यवस्था की तीन केंद्रीय समस्याओं-क्या उत्पादन किया जाए, कंसे उत्पादन किया जाए और उनका वितरण कैसे किया जाए- सभी व्यक्तिगत अर्थशास्त्र की विषय सामग्री है।

मुद्रा-स्फीति (Inflation)

'Inflation' का शाब्दिक अर्थ 'स्फीति' है परन्तु व्यवहार में इसे 'मुद्रा-स्फीति' अथवा 'मुद्रा-प्रसार' कहा जाने लगा है। इसका मुख्य कारण यह है कि इससे

सम्बंधित स्थिति, जिसमें मुद्रा का मूल्य गिरता है, मुख्यतया मुद्रा-प्रसार का ही परिणाम मानी जाती है। पहले मुद्रा-प्रसार का अर्थ यह समझा जाता था कि मुद्रा की मात्रा का विस्तार उसके पीछे रखे जाने वाले सुरक्षित कोष के अनुपात से अधिक हो गया है, परन्तु बाद में इसका प्रयोग उस स्थिति के लिए किया जाने लगा जब मुद्रा की मात्रा वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा से अधिक हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है अर्थात् कीमतों में वृद्धि होने लगती है –

क्राउथर के शब्दों में –“मुद्रा-स्फीति वह स्थिति है जिसमें मुद्रा-मूल्य गिरता है अर्थात् कीमतें बढ़ती हैं।.....मुद्रा -स्फीति को प्रायः बढ़ती हुई क्रियाशीलता तथा रोज़गार के संदर्भ में रूपायित किया जाता है” मुद्रा स्फीति की यह परिभाषा सरल है, परन्तु सही स्थिति को व्यक्त नहीं करती। वास्तव में, मुद्रा की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि तथा उसके परिणामस्वरूप कीमतों में होने वाली वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं कहलाएगी। जैसे – मंदी-काल में मुद्रा में किया गया विस्तार तथा कीमतों में बढ़ोत्तरी को मुद्रा-स्फीति नहीं कहा जाएगा, क्योंकि यह अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक नहीं अपितु हितकर होता है। इसी प्रकार, रोज़गार की स्थिति में प्रत्येक सुधार को मुद्रा स्फीति के सम्बन्ध में व्याख्यायित करना अनुचित होगा।

केमरर (Kemmerer) के अनुसार “मुद्रा-स्फीति वह स्थिति है जिसमें किए जा रहे व्यापार की तुलना में, चलन में मुद्रा की मात्रा अधिक होती है।” इस प्रकार केमरर उस स्थिति को मुद्रा-प्रसार समझते हैं जब देश में व्यापार-मात्रा के रूप में प्रकट की जाने वाली मुद्रा की मांग की अपेक्षा मुद्रा पूर्ति

अधिक होती है। जैसा कि केमरर ने एक अन्य स्थान पर लिखा है, यह आवश्यक नहीं कि मुद्रा-स्फीति की स्थिति मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर ही उत्पन्न हो। मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने पर भी व्यापार की मात्रा में कमी हो सकती है जिसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ने लगेंगी और मुद्रा-स्फीति के हालात उत्पन्न हो जायेंगे।

पीगू (Pigou) के विचारानुसार – “मुद्रा-स्फीति की स्थिति तब होती है जब मौद्रिक आय उत्पादन की तुलना में अधिक बढ़ रही हो।” इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने पर मौद्रिक आय बढ़ती है जिसके परिणामस्वरूप उपभोग की वस्तुओं और सेवाओं की मांग बढ़ती है तथा उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। धीरे-धीरे उत्पादन की वृद्धि तथा मौद्रिक आय की वृद्धि में साम्य स्थापित हो जाता है। इस बिंदु के आगे मौद्रिक आय में वृद्धि होने पर उत्पादन में वृद्धि नहीं होती बल्कि वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में वृद्धि होने लगती है। यही असंतुलन की स्थिति, जब मौद्रिक आय की वृद्धि उत्पादन की वृद्धि से अधिक होती है, मुद्रा-स्फीति कहलाती है।

यहाँ यह स्पष्ट है कि पीगू के अनुसार कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं है। निम्न पांच दशाओं में कीमतों की वृद्धि मुद्रा स्फीति की श्रेणी में आती है : (1) मौद्रिक आय में वृद्धि हो रही हो लेकिन उत्पादन की मात्रा स्थिर हो; (2) मौद्रिक आय में वृद्धि हो रही जबकि राष्ट्रीय उत्पादन की मात्रा घट रही हो; (3) मौद्रिक आय में वृद्धि इतनी तीव्र हो कि उसका अनुपात उत्पादन की वृद्धि से अधिक हो; (4) मौद्रिक आय यथास्थिर हो परन्तु राष्ट्रीय उत्पादन घट रहा हो; तथा (5) मौद्रिक आय घट रही हो और साथ ही उत्पादन में भी कमी

हो रही हो। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति की अवधारणा उत्पादन के साथ जुड़ी हुई है जिसके कारण यह अधिक व्यावहारिक एवं उपयुक्त है।

वास्तविकता यह है कि मुद्रा-स्फीति से अभिप्राय बढ़ती हुई कीमतों के क्रम से है न कि बढ़ी हुई कीमतों की स्थिति से। यह ऐसे आर्थिक असंतुलन को व्यक्त करती है जिसके अंतर्गत कीमतें निरन्तर बढ़ रही होती हैं। मिल्टन फ्रिडमैन मुद्रा-स्फीति को उल्लेखित करते हुए कहते हैं –“मुद्रा स्फीति का अर्थ है कीमतों में सुस्थिर एवं अविरत रूप से होने वाली वृद्धि”।

सकल घरेलू उत्पाद (GDP)

सकल घरेलू उत्पाद अर्थात् जीडीपी की अवधारणा सर्वप्रथम वर्ष 1654 और 1676 के बीच चले डच और अंग्रेजों के बीच अनुचित टैक्स को लेकर हुई लड़ाई के दौरान जमींदारों की आलोचना करते हुए विलियम पेटी ने प्रस्तुत की थी। हालांकि सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) की आधुनिक अवधारणा सबसे पहले 1934 में अमेरिकी कांग्रेस रिपोर्ट के लिए सिमोन कुनजेट ने पेश की थी। कुनजेट ने कहा कि इसे कल्याणकारी कार्यों मापन के रूप में नहीं इस्तेमाल किया जा सकता। 1944 के ब्रेटन वुड्स सम्मेलन के बाद ही देशों की अर्थव्यवस्था को मापने के लिए जीडीपी का प्रयोग किया जाने लगा।

सकल घरेलू उत्पाद एक सारभूत आंकड़ा होता है। अर्थशास्त्री और नीति विश्लेषणकर्ता इसी के आधार पर वर्ष भर में अर्थव्यवस्था की संवृद्धि की दर का आंकलन करते हैं। इस सकल घरेलू उत्पाद को राष्ट्रीय आय का एक मौलिक मापक माना जाता है। सकल घरेलू उत्पाद एक वर्ष की अवधि में किसी अर्थव्यवस्था में अव्यवस्थित सभी उत्पादक संसाधनों द्वारा उत्पादित

अंतिम वस्तुओं और सेवाओं के बाज़ार मूल्यों के योगफल के समान होता है। अंतिम वस्तुओं से यहाँ अभिप्राय है – ऐसी वस्तुएं जिनका उपभोक्ता उपभोग के लिए या उत्पादक निवेश के लिए प्रयोग करते हैं। इन वस्तुओं का रूप-आकार बदलकर पुनः विक्रय नहीं होता। इन्हें आगे उत्पादन में कच्चे माल की तरह भी प्रयोग नहीं लाया जाता। ये पूरी तरह से तैयार उत्पाद होते हैं और उपभोग एवं निवेश ही इनका अंतिम प्रयोग होता है। सकल घरेलू उत्पाद की गणना में अंतिम वस्तुओं के समग्र मूल्य का ही योगफल किया जाता है। इस मापक का महत्त्व एक अन्य कारण से भी स्पष्ट हो जाता है: विकास के संदर्भ में किसी अर्थव्यवस्था की सशक्तता का आंकलन उसकी अंतिम वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन कर पाने की क्षमता के आधार पर ही किया जाता है।

मांग एवं पूर्ति (Demand and Supply)

मानवीय आवश्यकताओं की सम्पूर्ति सभी उत्पादक आर्थिक गतिविधियों का मूल ध्येय और लक्ष्य होता है। इच्छा तो उपभोक्ता की किसी वस्तु को पाने की कामना मात्र है। यदि उस कामना के साथ-साथ उपभोक्ता की क्रय क्षमता और उसकी खरीदने की तत्परता का भी संयोग हो जाए तभी वह इच्छा एक 'आवश्यकता' का रूप धारण करती है। इससे आगे चलकर जब उपभोक्ता किसी वस्तु की निश्चित मात्रा, बाज़ार कीमत पर खरीदने को तत्पर होता है तो वह उसकी 'मांग' कहलाती है। यहाँ भी पर्याप्त क्रय शक्ति का होना आवश्यक है।

किसी वस्तु की मांग की मात्रा के विषय में तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है – प्रथम, मांग की मात्रा वह मात्रा है जिसे उपभोक्ता खरीदना चाहता है, यह आवश्यक नहीं कि वह इस मात्रा को खरीद पाने में सफल ही हो जाए। अतः मांगी गई मात्रा खरीददार की इच्छा है तथा खरीदी गई मात्रा को वास्तविक खरीदारी कहते हैं। दूसरे, मांगी गई मात्रा एक प्रवाह चर है – यह प्रति इकाई समय के अनुसार, किसी अवधि के लिए मापी जाती है। यदि यह कहा जाए कि संतरे की मांग 10 इकाई है तो इसका अर्थ 10 संतरे प्रतिदिन या प्रति सप्ताह से ही होगा। तीसरे, मांगी गई मात्रा तभी आर्थिक दृष्टि से सार्थक होती है जब उससे जुड़ी कीमत भी बताई गई हो। दूसरे शब्दों में, 10 इकाई संतरे प्रति सप्ताह की मांग की सार्थकता के लिए उनकी प्रति इकाई कीमत स्पष्ट करना भी आवश्यक है। जैसे कि - रु.100/- प्रति दर्जन कीमत पर 10 संतरे प्रति सप्ताह की मांग।

किसी वस्तु की मांग को प्रभावित करने वाले कारकों में सबसे महत्वपूर्ण उस वस्तु की कीमत है। प्रायः सभी वस्तुओं की कीमत में वृद्धि होने पर उनकी मांग में कमी आती है, कीमत कम होने पर मांग में वृद्धि भी होती है। हालांकि अन्य वस्तुओं की कीमतें, उपभोक्ता की आय और उसकी अभिरुचियाँ स्थिर रहनी चाहिए। वस्तु की मांग की मात्रा का उसकी कीमत के साथ यही विलोम सम्बन्ध 'मांग का नियम' कहलाता है। संक्षेप में, मांग के नियम को इस प्रकार व्याख्यायित कर सकते हैं – “अन्य बातें स्थिर रहने पर किसी वस्तु की कीमत और उसकी मांगी गई मात्रा के बीच विलोम सम्बन्ध होता है।”

आपूर्ति (Supply)

आपूर्ति या पूर्ति किसी वस्तु की उन मात्राओं को दर्शाती है जिनका उत्पादक विभिन्न कीमतों पर, प्रति समय इकाई, उत्पादन कर बिक्री करने को तैयार होते हैं। आपूर्ति को 'परिमाण' द्वारा व्यक्त किया जाता है अर्थात् वह परिमाण या मात्रा जो विक्रय हेतु प्रस्तुत की जाती है। वस्तु की आपूर्ति सदैव 'किसी कीमत विशेष पर प्रस्तुत की जा रही मात्रा' द्वारा इंगित की जाती है। उदाहरण के लिए – यह कह देना कि उत्पादक एक हजार कम्बल देने के लिए तैयार है, पर्याप्त नहीं है और न ही इसका कोई आर्थिक अर्थ होगा। लेकिन यह कहा जाए कि अमुक उत्पादक रु.500/- प्रति कम्बल की दर पर 1000 कम्बल की आपूर्ति को तैयार है तो फिर 'आपूर्ति' शब्द में आर्थिक अर्थ भी समाहित हो जाएगा। इसके साथ ही आपूर्ति के मापन में समय की इकाई का भी महत्व होता है। यह प्रतिदिन, सप्ताह, माह, वर्ष कोई भी कालावधि हो सकती है।

“औपचारिक रूप से, आपूर्ति उन मात्राओं से सम्बंधित है जिन्हें कोई उत्पादक विभिन्न कीमतों पर बेचने के लिए तैयार होता है।”

आपूर्ति को प्रभावित करने वाले कारकों में अगर कोई परिवर्तन न हो तो उच्चतर कीमत का अर्थ होगा उच्चतर लाभ। यदि उत्पाद को किसी वस्तु की उच्चतर कीमत प्राप्त होने की आशा होगी तो वह उसकी आपूर्ति में वृद्धि करने को अधिक उत्सुक भी होगा। इसी प्रकार, कीमत में कमी की आशंका से ग्रस्त उत्पादक उसकी कम मात्रा की आपूर्ति करना चाहेगा। अतः यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि किसी भी वस्तु की कीमत और उसकी

आपूर्ति की मात्रा के बीच एक सीधा सम्बन्ध रहता है। इसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध को 'आपूर्ति का नियम' कहते हैं। इस नियम के अनुसार जब किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है तो उसकी आपूर्ति की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है (कीमत में कमी पर मात्रा में कमी होगी) शर्त यही है कि आपूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य सभी कारक अपरिवर्तित रहें।

तर्क और वितर्क (Logic and Reasoning)

माध्य / मध्यमान (Mean)

जब हमें कुछ तथ्यों की तुलना करनी हो तो हमें सब के लिए एक आदर्श इकाई निर्धारित करनी पड़ती है। यह आदर्श इकाई ऐसी होनी चाहिए जो असामान्य परिवर्तनों का प्रभाव यथासंभव कम कर दें। यह प्रभाव कम करने का एकमात्र सरल तरीका यही है कि विभिन्न अंक समूहों का माध्य (Average or Mean) निकाल लिया जाए। माध्य निकालने में जो भी असामान्य मद होंगे उनका प्रभाव एक दूसरे द्वारा कम हो जायेगा और परिणामतः हमें पूरे समूह का प्रतिनिधि अंक (Representative Value) मिलेगा। यह प्रतिनिधि अंक ही औसत या माध्य कहलाता है। यह माध्य हमें विभिन्न अंक समूहों की, एक अंक के द्वारा जानकारी प्राप्त कराते हैं। अतः इनसे पूरे अंक समूह की स्थिति तथा परिवर्तन की जानकारी सरलतम तरीके से हो सकती है।

माध्यों का प्रयोग एक अथवा अधिक बड़े अंक समूहों के सम्बन्ध में निश्चित सूचना देने के लिए किया जाता है और उस सूचना के आधार पर हम उन

समूहों की पारस्परिक तुलना सरलता से कर सकते हैं जबकि प्रत्येक अंक को अलग-अलग लेकर तुलना करना असंभव है। उदाहरणस्वरूप यदि दो कक्षाओं के विद्यार्थियों की तुलना की जाये कि अर्थशास्त्र में कौन-सी कक्षा ने बेहतर प्रदर्शन किया है और दोनों कक्षाओं के विद्यार्थियों के अर्थशास्त्र में प्राप्तांक अलग-अलग दिए हों तो तुलना करना वास्तव में कठिन होगा क्योंकि एक विद्यार्थी के अंक अधिक आए हैं और दूसरे के कम। यही स्थिति दूसरी कक्षा की भी हो सकती है। ऐसे में दोनों कक्षाओं के विद्यार्थियों द्वारा प्राप्त अंकों का औसत निकाल कर सरलता से तुलना की जा सकती है। अगर एक कक्षा का औसत 20 अंक है और दूसरी का 22 तो यह सरलता से निश्चित किया जा सकता है कि दूसरी कक्षा का प्रदर्शन पहली कक्षा की तुलना में बेहतर है।

माध्यों (Mean) के द्वारा ही हम किसी समय की आर्थिक अथवा सामाजिक स्थिति में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। मूल्यों का औसत निर्देशांक अथवा उत्पादन की औसत वृद्धि, मांग में औसत परिवर्तन आदि महत्वपूर्ण बातें हैं जिनके आधार पर मजदूरी, उत्पादन आदि में परिवर्तन किये जा सकते हैं क्योंकि औसत या माध्य, क्षणिक अथवा असामान्य परिवर्तनों को सम कर देता है। अतः वह अधिक विश्वसनीय है।

माध्य के बारे में एक बात ध्यातव्य है कि वे पद (Items) जिनका माध्य निकालना है, एक ही परिवार से हों। किसी व्यक्ति की आय और आयु का माध्य नहीं निकाला जा सकता। किसी समूह के माध्य की इकाई (Unit) उसके पदों की इकाई होती है।

बहुलक / बहुलांक (Mode)

‘Mode’ शब्द फ्रेंच भाषा के ‘La mode’ से बना है जिसका अर्थ है रिवाज या फैशन। सांख्यिकी में बहुलक (या भूयिष्ठक) उस मूल्य को कहते हैं जो समंकमाला में सबसे अधिक बार आता हो अर्थात् जिसकी सबसे अधिक आवृत्ति हो। वह ‘सर्वाधिक घनत्व की स्थिति’ (position of greatest density) या ‘मूल्यों’ के अधिकतम सकेन्द्रण का बिंदु’ (point of highest concentration of values) कहलाता है। क्राकस्टन एवं काउडेन के अनुसार – ‘एक समंक – बंटन का बहुलक वह मूल्य है जिसके निकट श्रेणी की इकाइयाँ अधिक से अधिक केन्द्रित होती हैं। उसे मूल्यों की श्रेणी का सबसे अधिक प्रतिरूपी मूल्य माना जा सकता है।’ यदि यह कहा जाए कि एक कॉलेज के छात्रावास में रहने वाले विद्यार्थियों का बहुलक व्यय (modal expenditure) 100 रुपये प्रति माह है तो इसका अर्थ होगा कि उन विद्यार्थियों में से अधिकाँश 100 रुपये मासिक खर्च करते हैं। इस प्रकार, बहुलक लाभ (modal profits), कॉलर का बहुलक आकार (modal size of the collar), बहुलक मजदूरी (modal wages) आदि का तात्पर्य इन घटनाओं से सम्बंधित अधिकतम इकाइयों के मूल्यों से है।

बहुलक/बहुलांक का निर्धारण – व्यक्तिगत श्रेणी में बहुलक निकालने की विधियाँ हैं –

- व्यक्तिगत श्रेणी को खंडित श्रेणी में बदल-कर
- सतत श्रेणी में बदल कर

- मध्यका एवं समान्तर माध्य की सहायता से बहुलक/बहुलांक का अनुमान

बहुलक का सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह है कि समझने में तथा ज्ञात करने में अत्यंत सरल होता है। दैनिक जीवन में इसका काफी प्रयोग किया जाता है। दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के औसत मूल्य की जानकारी बहुलक से ही होती है। निरीक्षण पद्धति से अधिकतर बहुलक का निर्धारण कर लिया जाता है। सतत श्रेणी में भी गणना द्वारा ही बहुलांक निकाल लिया जाता है।

बहुलक पर श्रेणी के चरम मूल्यों या सीमांत इकाइयों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नियमित आवृत्ति-बंटन में केवल बहुलक वर्ग या मूल्य और उसके आस-पास की आवृत्तियों के आधार पर ही बहुलक निर्धारित किया जा सकता है। सभी आवृत्तियों की जानकारी आवश्यक नहीं है।

बहुलक श्रेणी का वह मूल्य है जो सबसे अधिक बार पाया जाता है, अतः वह समूह का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करने वाला अंक है। उसका मूल्य समूह में दिए गए मूल्यों में से एक ही होता है।

दैनिक जीवन तथा व्यापारिक क्षेत्र में बहुलक का काफी प्रयोग किया जाता है। जब यह कहा जाता है कि 'औसत छात्रावास विद्यार्थी का मासिक व्यय 80 रुपये है', 'कॉलर का औसत आकार 32 सेंटीमीटर है', 'टेलीफोन कॉल की दैनिक औसत संख्या 20 है' तब औसत से यहाँ तात्पर्य सबसे अधिक आवृत्ति वाले मूल्य अर्थात् बहुलक से है। उद्योग व प्रशासन के क्षेत्र में बहुलक की सहायता से औसत-उत्पादन ज्ञात किया जाता है जिसके आधार पर विभिन्न

कारखानों तथा विभागों की कार्यकुशलता का तुलनात्मक मूल्यांकन किया जाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु के उत्पादन में लगने वाले बहुलक समय के निर्धारण द्वारा उसकी लागत का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। विभिन्न वस्तुओं की लोकप्रियता का अध्ययन बहुलक द्वारा ही किया जाता है। मौसम-सम्बन्धी पूर्वानुमानों में भी बहुलक का ही प्रयोग किया जाता है।

मध्यका / मध्यांक (Meadian)

किसी समंक-श्रेणी को आरोही या अवरोही क्रम में व्यवस्थित करने पर उस श्रेणी के मध्य में जो मूल्य आता है उसे ही मध्यका या मध्यांक कहा जाता है। कॉनर के अनुसार –“मध्यका समंक-श्रेणी का वह चर-मूल्य है जो समूह को दो बराबर भागों में इस प्रकार बांटता है कि एक भाग में सारे मूल्य मध्यका से अधिक और दूसरे भाग में सारे मूल्य उससे कम हो।” इस प्रकार, मध्यका वह केन्द्रीय मूल्य है जो क्रमबद्ध समंक-माला को दो बराबर भागों में विभाजित करता है। उदाहरणार्थ, यदि 5 विद्यार्थियों के प्राप्तांक 11, 15, 18, 25 और 32 हों तो उनका मध्यांक 18 होगा क्योंकि यह तीसरे क्रम का अंक है जो बिलकुल मध्य में स्थित है तथा इससे पहले दोनों अंक (11, 15) कम और बाद के दोनों अंक (25, 32) इससे अधिक हैं।

मध्यांक को समझना और ज्ञात करना बहुत ही सरल है। अनेक परिस्थितियों में मध्यांक केवल समंक-श्रेणी के निरीक्षण से ही ज्ञात किया जा सकता है। बहुलक की भांति मध्यांक पर भी चरम मूल्यों या सीमांत पदों का कोई प्रभाव

नहीं पड़ता। सीमांत मूल्यों के बिना, केवल श्रेणी के मध्य मूल्यों के आधार पर ही इसे निकाला या ज्ञात किया जा सकता है।

मध्यका/मध्यांक एक निश्चित एवं स्पष्ट माध्य है। प्रत्येक समंक-माला में निश्चितता के साथ इसके मूल्य का निर्धारण किया जा सकता है। यह बहुलक की तरह अनिश्चित नहीं है।

बौद्धिक स्तर, स्वास्थ्य, दरिद्रता जैसे गुणात्मक तथ्य जो प्रत्यक्ष रूप से मापनीय नहीं हैं, का माध्य ज्ञात करने के लिए मध्यांक को सर्वोत्तम माना जाता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण में भी मध्यका की काफी उपयोगिता है। वस्तुतः जहाँ इकाइयों को क्रमानुसार रखा जा सके और चरम मूल्यों को महत्त्व न देना हो वहाँ मध्यांक का प्रयोग उचित है।

समुच्चय (Set)

वर्तमान समय में गणित के अध्ययन में समुच्चय की परिकल्पना आधारभूत है। आजकल इस परिकल्पना का प्रयोग गणित की प्रायः सभी शाखाओं में होता है। समुच्चय का प्रयोग सम्बन्ध एवं फलन को परिभाषित करने के लिए किया जाता है। ज्यामितीय, अनुक्रम आदि के अध्ययन में समुच्चय के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। समुच्चय सिद्धांत का विकास जर्मन गणितज्ञ जॉर्ज कैंटर द्वारा किया गया था। त्रिकोणीय श्रेणी के प्रश्नों को सरल करते समय उनका समुच्चय से पहली बार परिचय हुआ था।

समुच्चय से तात्पर्य वस्तुओं के एक सुपरिभाषित समूह या संग्रह से है। सुपरिभाषित का अर्थ उस विशिष्टता के सुपरिभाषित होने से है जिसके आधार पर इन वस्तुओं को संग्रहीत कर एक समूह में रखा जाता है। उदाहरण के लिए – फुटबाल टीम अर्थात् फुटबाल खिलाड़ियों का समुच्चय, इस समुच्चय का आधार हर खिलाड़ी द्वारा फुटबाल खेले जाने की विशिष्टता है जो सुपरिभाषित है जबकि कद, रंग, चेहरा आदि भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

समुच्चय में संग्रहीत प्रत्येक वस्तु को समुच्चय का अवयव कहा जाता है। समुच्चय को व्यक्त करने की दो वैकल्पिक विधियाँ हैं – प्रथम पद्धति में, समुच्चय के सभी अवयवों को मध्य कोष्ठक के भीतर सूचीबद्ध कर दिया जाता है जैसे: $S = \{-3, 0, 2, 7\}$. समुच्चय व्यक्त करने की इस विधि को सारणीबद्ध या सूची बद्ध विधि कहा जाता है। दूसरी विधि में, समुच्चय के अवयवों को सूचीबद्ध करने के स्थान पर अवयवों के उस विशिष्ट गुण द्वारा समुच्चय को परिभाषित किया जाता है जो समुच्चय निर्माण का आधार बनता है। सामान्यतया इस विधि का प्रयोग तब किया जाता है जब समुच्चय के अवयवों की संख्या बहुत अधिक हो। इस विधि को गुण या निर्माण विधि से उद्धोधित किया जाता है। उदाहरण के लिए – $A = \{x : x, \text{ एक धनात्मक संख्या है} \}$

समुच्चयों का समुच्चय -

जब किसी समुच्चय के अवयव स्वयं में एक समुच्चय हो तो उसे समुच्चयों का समुच्चय कहते हैं। जैसे – भारत की अर्थव्यवस्था विश्व की सभी अर्थव्यवस्थाओं के समुच्चयों का एक अवयव है। किन्तु भारत की अर्थव्यवस्था

स्वयं में विभिन्न प्रान्तों की अर्थव्यवस्थाओं का एक समुच्चय है। इसी प्रकार एक प्रान्त की अर्थव्यवस्था उसके जिलों की अर्थव्यवस्थाओं का समुच्चय है।

समष्टीय समुच्चय – किसी निश्चित संदर्भ में दिए हुए सभी समुच्चय एक निश्चित समुच्चय के उपसमुच्चय हैं तो उस निश्चित समुच्चय को समष्टीय या सार्वत्रिक समुच्चय कहा जाता है। इसे अंग्रेजी भाषा के अक्षर 'U' द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। उदाहरण के लिए – यदि वास्तविक संख्याओं का अध्ययन किया जा रहा हो तो सभी वास्तविक संख्याओं का समुच्चय समष्टीय समुच्चय कहा जायेगा। इस प्रकार यदि भारत की आर्थिक गतिविधियों का संदर्भ हो तो भारतीय अर्थव्यवस्था समष्टीय समुच्चय होगी।

इतिहास-दर्शन आधारित उपन्यास (Historiographic Novels)

होलोकास्ट (Holocausts)

"होलोकास्ट" शब्द, ग्रीक शब्दों से 'होलोस' (संपूर्ण) और "काओस्टोस" (जला हुआ) जिसमें वैचारिक और व्यवस्थित राज्य-प्रायोजित अभियोजन और लाखों यूरोपीय यहूदियों की सामूहिक हत्या (साथ ही लाखों अन्य, जिनमें जिप्स, बौद्धिक रूप से अक्षम, असंतुष्ट और समलैंगिकों) शामिल हैं।

1933 और 1945 के बीच जर्मन नाजी शासन और यहूदी विरोधी नाजी नेता एडोल्फ हिटलर के लिए, यहूदी एक हीन जाति थी, जिसको समझा जाता था कि यह जर्मन समुदाय के लिए एक खतरा है। जर्मनी में नाजी शासन के वर्षों के शासन बाद तक भी यहूदियों को लगातार सताया गया था, हिटलर के

"अंतिम समाधान" जिसे होलोकॉस्ट के रूप में जाना जाता था - द्वितीय विश्व युद्ध के तहत उभरा था। जिसमें कब्जे वाले पोलैंड के कंसंट्रेशन कैंप में बड़े पैमाने पर हत्या केंद्रों का निर्माण किया गया था। इन कैंपो में नस्लीय, राजनीतिक, वैचारिक और व्यवहारिक कारणों से लगभग छह मिलियन यहूदियों और लगभग 5 मिलियन अन्य लोगों की मृत्यु हुई। मरने वालों में से दस लाख से अधिक बच्चे थे।

1933 में अडोल्फ़ हिटलर जर्मनी की सत्ता में आया और उसने एक नस्लवादी साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें यहूदियों को सब-ह्यूमन करार दिया गया और उन्हें इंसानी नस्ल का हिस्सा नहीं माना गया। 1939 में जर्मनी द्वारा विश्व युद्ध भड़काने के बाद हिटलर ने यहूदियों को जड़ से मिटाने के लिए अपने अंतिम हल (फाइनल सोल्यूशन) को अमल में लाना शुरू किया। उसके सैनिक यहूदियों को कुछ खास इलाकों में ठूसने लगे। उनसे काम करवाने, उन्हें एक जगह इकट्ठा करने और मार डालने के लिए विशेष कैंप स्थापित किए गए, जिनमें सबसे कुख्यात था ऑस्चविट्ज। यहूदियों को इन शिविरों में लाया जाता और वहां बंद कमरों में जहरीली गैस छोड़कर उन्हें मार डाला जाता। जिन्हें काम करने के काबिल नहीं समझा जाता, उन्हें मौत के घाट उतार दिया जाता, जबकि बाकी बचे यहूदियों में से ज्यादातर भूख और बीमारी से दम तोड़ देते। युद्ध के बाद सामने आए दस्तावेजों से पता चलता है कि हिटलर का मकसद दुनिया से एक-एक यहूदी को खत्म कर देना था।

युद्ध के छह साल के दौरान नाजियों ने तकरीबन 60 लाख यहूदियों की हत्या कर दी, जिनमें 15 लाख बच्चे थे। यहूदियों को जड़ से मिटाने के अपने मकसद को हिटलर ने इतने प्रभावी ढंग से अंजाम दिया कि दुनिया की एक तिहाई यहूदी आबादी खत्म हो गई। यह नरसंहार संख्या, प्रबंधन और क्रियान्वयन के लिहाज से विलक्षण था। इसके तहत एक समुदाय के लोग जहां भी मिले, वे मारे जाने लगे, सिर्फ इसलिए कि वे यहूदी पैदा हुए थे। इन कारणों के चलते ही इसे अपनी तरह का नाम दिया गया-होलोकॉस्ट।

इतिहास (History)

अंग्रेजी भाषा का "हिस्ट्री" शब्द यूनानी भाषा के "हस्तोरिया" शब्द से निकला है, जिसका अर्थ अन्वेषण, शोध, खोज या जानकारी होता है। एक व्यापक अर्थ में इतिहास मनुष्य के उद्गम और विकास का व्यवस्थित लेखा-जोखा है। इतिहास मनुष्य का जीवित अतीत है। यह शताब्दियों के दौरान मनुष्य द्वारा अपने अतीत को पुनर्निर्मित, वर्णित और व्याख्यायित करने का प्रयास है। शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है- 'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'। इससे दो बातें स्पष्ट हैं- एक तो यह कि इतिहास का संबंध अतीत से है; दूसरा यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है। अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को, जो कि काल विशेष या काल-क्रम की दृष्टि से किया गया हो, इतिहास कहा जा सकता है।

विवेक का सबसे बड़ा स्रोत है इतिहासबोध, यानी इतिहास के 'क्यों', 'क्या' और 'कैसे' की समझ, यानी अतीत की मदद से वर्तमान को समझने और भविष्य को संवारने की समझ। यही तो काम है इतिहास का, समाज को बताना कि आदमी गुफाओं से खलाओं (अंतरिक्ष) तक कैसे पहुंचा है और इतनी सारी जंजीरें तोड़ता हुआ भी। आज भी जितनी जंजीरें तोड़ी हैं उससे ज्यादा से ही बंधा लगता है। इतिहास ही रूसो की उक्ति- 'मनुष्य मुक्त ही पैदा होता है पर हर कहीं जंजीरों में बंधा है' का मर्म बताता है।

इतिहासकार द्वारा अतीत का पुनर्निर्माण इतिहास है। जो दस्तावेज या अवशेष अतीत छोड़ता है, वे इस पुनर्निर्माण के लिए इतिहासकार की सामग्री प्रमुख है। उसके द्वारा स्थापित तथ्यों के लिए वे साक्ष्य का काम करते हैं। इन अभिलेखों के विविध रूप होते हैं। भवन, भित्ति लेख या शिलालेख या अन्य उत्कीर्ण सामग्री, पदक, सिक्के, इति वृत्तांत, यात्रा वृत्तांत, राजाज्ञाएं, संधियां शासकीय पत्राचार, निजी पत्र एवं डायरियां। अभिलेख-रूपी इस इतिहास के अध्ययन से ही इतिहासकार घटना-रूपी इतिहास का ज्ञान प्राप्त करता है। इतिहास साक्ष्यों से निपटता है। इसलिए कहा गया है, "अभिलेख नहीं तो इतिहास नहीं।"

चूंकि इतिहास का रास्ता साक्ष्यों से है, इसलिए अतीत द्वारा पीछे छोड़े गए अभिलेखों का इस्तेमाल बहुत सावधानी से होना चाहिए। इसकी वजह है कि वे शायद पूरी तरह सही और निर्दोष न हों। अपने स्रोतों पर पूरी तरह भरोसा करने के बजाय इतिहासकार सभी आंकड़ों पर शक कर के चले जब तक कि अन्यथा प्रतिकूल सिद्ध न हो जाए। इतिहासकार का लक्ष्य अतीत की

यथासंभव सच्ची तस्वीर पेश करना होना चाहिए। अतीत की घटनाओं की सच्चाई तक पहुंचने के लिए विकसित किए गए तरीके को ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं। यह पद्धति विश्लेषण पर आधारित है जिसमें "बाह्य" और "आंतरिक" आलोचना शामिल है। बाह्य आलोचना या आलोचनात्मक अध्ययन किसी अभिलेख के स्थान और काल के अलावा यह निर्धारित करता है कि उसका लेखक अथवा जनक कौन है। किसी अभिलेख के मूल्य निर्धारण के लिए यह जानकारी बहुत महत्वपूर्ण है। आंतरिक या व्याख्यात्मक अथवा उच्चतर आलोचना पता लगाती है कि किसी अभिलेख की अंतर्वस्तु को सही माना जा सकता है या नहीं। अभिलेखों में प्रस्तुत तथ्यों के सही-गलत का फैसला बाह्य और आंतरिक आलोचना मिलकर सुनाती है।

इतिहास की तरह ही समाज विज्ञान के अन्य विषय- चाहे समाजशास्त्र हो या नृतत्वशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र- समाज में मनुष्य की स्थिति का अध्ययन करते हैं जिसके दायरे में परिवर्तन की समस्या भी आ जाती है। लेकिन आर्थर मार्विक लिखते हैं, जो बात इतिहास को इन अन्य अनुशासनों से अलग करती है वह है कालगत परिवर्तन के तत्त्व की विशेष चिंता ... समाजविज्ञानी समाज में मनुष्य की गतिविधियों में दृष्टिगोचर समान तत्त्वों और नियमित पैटर्न की तलाश करता है; इतिहासकार अलग-अलग कालावधि में समाजों के अंतर को देखता है, कि कालक्रम में समाज कैसे विकसित और परिवर्तित हुए।

कालक्रम में परिवर्तन की यह मौलिक चिंता इतिहासकार को यह पता लगाने के लिए बाध्य करती है कि उसके द्वारा वर्णित घटनाओं का सटीक समय क्या

है। घटनाओं के बयान, विश्लेषण और व्याख्या के लिए उसे उनके होने का क्रम जानना जरूरी है।

इतिहास का विषय अतीत है पर उसका परिप्रेक्ष्य वर्तमान का है। कुल मिलाकर इतिहास वर्तमान के लिए ही होता है। यह जरूर है कि उसे 'वर्तमान-ग्रस्त' नहीं होना चाहिए, यानी वर्तमान के लिए अतीत का मनमाना इस्तेमाल नहीं होना चाहिए। यह समाज के लिए घातक होता है।

भाषा समाज और संस्कृति (Language Society and Culture)

बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturalism)

समाजशास्त्र में बहुसंस्कृतिवाद वह दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार माना जाता है कि सांस्कृतिक भेदों को सम्मान देना चाहिए इन्हें प्रोत्साहित करना चाहिए यह समाज में पाई जाने वाली सांस्कृतिक विविधता का वर्णन करने हेतु प्रयोग में लाई जाने वाली अवधारणा है।

बहुसंस्कृतिवाद का सिद्धांत युरोकेंद्रीयता और श्वेत-संस्कृति के आधार पर किये जाने वाले समरूपीकरण के खिलाफ विकसित हुआ है। यह वैचारिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन न केवल आज के विकसित और उदारतावादी समाजों की बहुलवादी बनावट को स्वीकार करता है, बल्कि समुदायों के भीतर विभिन्न आस्थाओं, जातीयताओं और विविध संस्कृतियों की मौजूदगी को सकारात्मक मानकर उन्हें शक्ति के सशक्तिकरण का श्रोत भी करार देता है। बहुसंस्कृतिवाद मूलतः अमेरिकी परिस्थिति की उपज है। इसका जन्म श्वेत-अमेरिकी पहचान के आधार पर रचित अमेरिकीपन की शर्तें

बदलने के लिए प्रति-सांस्कृतिक और मानवाधिकार आंदोलनों के दौरान हुआ। अमेरिकी समाज को मेल्टिंग पॉट (कुठाली) कहा जाता है। इसका मतलब होता है कि विविध जातीय धाराओं का अमेरिकी संस्कृति में विसर्जन। मेल्टिंग पॉट की धारणा के मुकाबले सलाद के तश्तरी का विचार रखा जाता है जिसमें एक राष्ट्र की सीमा में रहते हुए संस्कृतियाँ अपनी अलग-अलग पहचान नहीं खोतीं। बहुसंस्कृतिवाद के पैराकारों का विचार है कि प्रत्येक समुदाय सहअस्तित्व में रहते हुए एक-दूसरे के मूल्यों और परम्पराओं से कुछ न कुछ लेकर समृद्ध होता रहता है। बहुसंस्कृतिवाद ऐसे राज्य को अच्छी निगाहों से नहीं देखता जिसमें किसी एक समुदाय या संस्कृति को प्रभुत्व की हैसियत देने का रुझान हो। इसी प्रकार बहुसंस्कृतिवाद लोकतंत्र को अनिवार्य मानता है, क्योंकि विविध सांस्कृतिक आचरण-संहिताएँ लोकतंत्र की अनुपस्थिति में एक साथ नहीं रह सकतीं। उदारवादी राजनीतिक दर्शन के दायरे में अस्सी के दशक के आखिरी वर्षों में बहुसंस्कृतिवाद की संकल्पना उभरकर सामने आयी। समुदायवाद ने इस व्यक्ति-केंद्रीयता की इस आधार पर आलोचना की कि यह व्यक्ति के सामुदायिक या सामाजिक संदर्भों की उपेक्षा करता है। माइकल सैंडल, मैकेंटायर और चार्ल्स टेलर जैसे समुदायवादियों ने इंसान की शख्सियत और उसकी सोच विकसित करने में समुदाय की भूमिका पर जोर दिया। बहुसंस्कृतिवाद ने उदारवादी रूपरेखा के भीतर समुदायवाद की आलोचनाएँ समायोजित करने की कोशिश की है।

जाहिर है कि बहुसंस्कृतिवाद के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क सिर्फ 'ऐतिहासिक गलतियों' को सुधारने या भेदभाव खत्म करने से संबंधित नहीं हैं।

विविधता को मान्यता देने के पीछे इस विश्वास का भी महत्वपूर्ण योगदान है कि प्रत्येक संस्कृति में मूल्यवान तत्व हैं। जिन्हें दूसरी संस्कृति के लोगों को जानना चाहिए। हर संस्कृति से दूसरी संस्कृति के लोग बहुत कुछ सीख सकते हैं। बहुसंस्कृतिवाद के कारण अब राजनीतिक समुदाय समरूप निकाय की तरह नहीं देखा जाता। इसकी जगह अब माना जाता है कि राजनीतिक समुदाय न केवल विविधताओं से भरा हुआ है, बल्कि यह विविधता एक मूल्यवान लोकतांत्रिक राजनीतिक 'स्पेस' है।

बहुसंस्कृतिवाद की आलोचना भी होती है। यह सही है कि वह समुदाय में व्यक्ति के विचार और समुदाय की प्राथमिकता स्थापित करने की कोशिश करता है, लेकिन इसमें यह खतरा भी मौजूद है कि बहुसंस्कृतिवाद के तहत समुदाय के भीतर व्यक्ति के आलोचनात्मक और सृजनशील सदस्यता के अधिकार को नकार दे। बहुसंस्कृतिवाद कई समुदायों के भीतर कायम ऊँच-नीच और भेदभाव की उपेक्षा कर सकता है। चूँकि बहुसंस्कृतिवाद समुदाय की सुरक्षा पर बहुत ज्यादा ध्यान देता है। इसलिए इसके तर्क समुदाय को बाहरी पाबंदियों से हिफाजत की तरफदारी करते हैं, लेकिन साथ ही समुदाय के इस अधिकार को भी मान्यता देते हैं कि वह अपने सदस्यों पर आंतरिक पाबंदियाँ लगा सकता है। ये पाबंदियाँ व्यक्ति की आजादी को नुकसान पहुंचाती हैं। ब्रायन बैरी ने कई आधारों पर बहुसंस्कृतिवाद की आलोचना की है। उनके अनुसार बहुसंस्कृतिवादी का यह मानना पूरी तरह से गलत है कि मनुष्यों में दूसरी संस्कृति अपनाने की क्षमता नहीं होती है।

हम जानते हैं कि इतिहास के पिछले सभी युगों के मुकाबले मौजूदा भूमंडलीकरण के दौर में संस्कृतियों की क्षेत्रीय हदबंदी सबसे अधिक टूटी है किसी भी स्थान की आबादी में अलग-अलग सांस्कृतिक समूह अभूतपूर्व तरीके से बढ़ा है। इसके साथ-साथ लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया ने अल्पसंख्यकों के अधिकारों को लेकर एक अलग तरह की जागरूकता का माहौल भी निर्मित किया है। इसलिए आज वस्तुगत परिस्थितियाँ एवं आम वैचारिक रूझान, दोनों को देखते हुए इस बात की आवश्यकता महसूस की जा रही है कि समाज में रहने वाले भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक समूहों को अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखने की इजाजत दी जाए। किसी खास संस्कृति को समाज विशेष की मुख्यधारा मानना उसके इतिहास के आलोक में ही पूरे समाज के इतिहास को प्रस्तुत करना और दूसरों को दोयम दर्जे पर रखना या उनके मूल्यों-मान्यताओं रीति-रिवाजों भाषाओं को वैधता न देना यह सामाजिक सद्भाव के लिए घातक है। इसलिए बहुसंस्कृतिवाद के समर्थक इसे एक बेहतर व्यवस्था के रूप में देखते हैं जो लोगों को अपनी जड़ों के साथ जुड़कर जीने का खुला अवसर मुहैया कराती है और इस क्रम में दूसरों के प्रति भी अधिक सहिष्णु बनाती है। वे मानते हैं कि आज तक इतिहास के लेखन में भी वर्चस्वशाली समूहों के योगदान को बढ़ा-चढ़ाकर तथा अल्पसंख्यक समूहों के योगदान को कमतर करके दिखलाने की प्रवृत्ति रही है। बहुसंस्कृतिवाद इसे नकारते हुए कई तरह के इतिहासों की माँग करता है और इसलिए यह लगातार अधिक घुलती-मिलती हुई दुनिया में सबसे कारगर विचार एवं नीति है।

भारत की संस्कृति अपने लम्बे इतिहास अद्वितीय भूगोल और जनसांख्यिकीय के द्वारा निर्मित है। यह विविधता पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में विस्तृत है। भारत की संस्कृति विभिन्न संस्कृतियों के मेल से बनी है। यहाँ पर भाषा, कला संगीत, साहित्य परम्परा, वेशभूषा आदि में यह विविधता दिखाई देती है। भारत अनेक भाषाओं और बोलियों का देश है। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाओं को स्वीकृति दी गयी है। इस देश में सैकड़ों की संख्या में बोली जाने वाली बोलियाँ हैं। भारत की यह भाषायी विविधता हिन्दी की एक बड़ी ही प्रभावशाली उक्ति से उजागर होती है - "कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी।" इसका यह अर्थ है कि जहाँ भारत में एक-एक कोस पर पानी का स्वाद बदलने लगता है, वहीं चार कोस के बाद लोगों की बोली में भी बदलाव आने लगता है। अतः भाषाओं की बहुलता से समाज की सांस्कृतिक बहुलता स्थापित होती है।

बहुभाषिकता (Multilingualism)

बहुभाषी का अर्थ ऐसे व्यक्ति से है जो दो या दो से अधिक भाषाओं का प्रयोग करता है। विश्व में बहुभाषी लोगों की संख्या एकभाषियों की तुलना में बहुत अधिक है। विद्वानों का मत है द्विभाषिकता किसी भी व्यक्ति के ज्ञान एवं व्यक्तित्व के विकास के लिए उपयोगी है। हागेन के अनुसार "दो भाषाओं के ज्ञान की स्थिति द्विभाषिक है।" वैसे तो बहुत-सी भाषाओं को जानने वाले को बहुभाषिक कहते हैं। परन्तु एक से अधिक भाषा (केवल दो) जानने वाले को द्विभाषिक के साथ-साथ बहुभाषिक भी कहते हैं। ब्लूमफील्ड के अनुसार "बहुभाषिकता की स्थिति तब पैदा होती है, जब व्यक्ति किसी ऐसे समाज में

रहता है जो उसकी मातृभाषा से अलग भाषा बोलता है और उस समाज में रहते हुए वह उस अन्य भाषा में इतना पारंगत हो जाता है कि उस भाषा का प्रयोग मातृभाषा की तरह कर सकता है।"

द्विभाषिकता का संबंध दो या दो से अधिक भाषाओं के प्रयोग की क्षमता से है। ब्लूमफील्ड के अनुसार "द्विभाषिक वह व्यक्ति माना जायेगा जो दो भाषाओं में मातृभाषावत दक्षता रखता हो" इसी प्रकार जो विद्वान द्विभाषिकता को स्थिति विशेष के रूप में परिभाषित करना चाहते थे, उनके मतानुसार द्विभाषिकता व्यक्ति के बचपन में समान रूप से दो भाषाओं को एक साथ सीखने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, जिससे वह व्यक्ति किसी भी बात को दोनों ही भाषाओं में सहज भाव से व्यक्त कर पाने की क्षमता रखता है।

सामाजिकता के आयाम पर द्विभाषिकता को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : 'व्यक्तिपरक द्विभाषिकता' और 'समुदायपरक द्विभाषिकता'। व्यक्तिपरक द्विभाषिकता को प्रयोक्ता अपनी व्यक्तिक आवश्यकताओं के कारण अन्य भाषा को स्वीकार करता है। इस वर्ग के प्रयोक्ता किसी सामाजिक दबाव अथवा सम्प्रेषण-व्यवस्था की अपनी माँग के कारण दूसरी भाषा सीखने की ओर प्रवृत्त नहीं होते। उदाहरण के लिए अगर हिन्दी मातृभाषी रूसी, जर्मनी, फ्रेंच, ग्रीक आदि भाषाओं के सीखने की ओर प्रवृत्त होता है, तब उसकी इस प्रवृत्ति को उसके समाज की सम्प्रेषण-व्यवस्था की माँग का परिणाम नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत समुदायपरक द्विभाषिकता में प्रयोक्ता मातृभाषेतर भाषा को अपने समाज की व्यापक सम्प्रेषण-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में सीखता है। इस वर्ग का

प्रयोक्ता अन्य भाषा को एक सामाजिक दबाव के संदर्भ में परिणामस्वरूप अपनाता पाया जाता है।

हर व्यक्ति अपने भाषायी समाज का सदस्य होता है। भाषा उनकी सामाजिक अस्मिता का मार्कर भी है। जब कोई व्यक्ति अन्य भाषा सीखता है तब उसके भाषायी समाज से भी जुड़ता है। भाषा और संस्कृति का संबंध एक-दूसरे से बहुत गहरा होता है। कुछ लोग तो भ्रम से भाषा को किसी समुदाय की संस्कृति का एक सूचक चिह्न भी मानते हैं, पर भाषा और संस्कृति दोनों का संबंध सामाजिक समुदाय में रहता है।

भारत वर्ष एक बहुभाषी देश है। 1961 की जनगणना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस देश में 1652 मातृभाषाएँ हैं, जिनको 200 वर्गीकृत भाषाओं में बाँटा जा सकता है। भारतवर्ष में बहुभाषिकता किसी समस्या के रूप में नहीं रही। यहाँ की संचार-व्यवस्था समाज की अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप जिस प्रकृति में ढलती हुई गई, उसमें बहुभाषिक स्थिति एक सहज और प्राकृतिक लक्षण के रूप में उभरी। यही कारण है कि न केवल भारतवर्ष एक देश के रूप में बहुभाषी देश है वरन् हर भाषावार प्रदेश भी एक बहुभाषी प्रदेश भी है।

भारतीय समाज भाषा-वैविध्य को बिना मिटाए हुए भाषा की एकता पर बल देता रहा है। भाषा सहिष्णुता उसकी जातीय एवं सांस्कृतिक चेतना की आंतरिक शक्ति के रूप में स्थित रही है। जिस सामाजिक संस्कृति की बात हिन्दी के माध्यम से संविधान में उठाई गई है। वह न तो भाषा-परिवर्तन और न भाषा-लोप पर आधारित है, बल्कि विभिन्न भाषाओं की परिपूरक प्रयोजनों

पर आधारित सामाजिक-सम्प्रेषण व्यवस्था से जुड़ी हुई है। आपसी भाषायी सहयोग उस भाषायी बहुभाषी समाज का निर्माण करता है, जो अपनी प्रकृति में समानाधिकरणिक न होकर सामासिक होता है। बहुभाषिकता के संदर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि भाषा समाज के हर प्रकार के दायित्व को नहीं निभाती। अगर बहुभाषिकता की प्रकृति व्यक्तिपरक न होकर समुदायपरक है, तब विभिन्न भाषाओं का प्रयोग अपने एक निश्चित सामाजिक संदर्भ की अपेक्षा रखेगा। उसी संदर्भ में उस भाषा का प्रयोग सहज और सामान्य माना जायेगा, जिस प्रकार किसी एक भाषा के भीतर कई शैलियाँ होती हैं और हर शैली एक विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ की माँग करती है। उसी प्रकार अगर हम भाषा की सीमा का विस्तार कर अपनी दृष्टि भाषायी समाज तक ले जायें और उसे विवेच्य सामग्री के लिए इकाई मान लें, तब हम पाते हैं कि एक भाषा समाज के बीच स्थिर सम्बन्धों के साथ निर्वाह करने वाली भाषाएँ भी शैलीवत ही सिद्ध रहती हैं।

भारत में बहुभाषिकता को स्थिति नई नहीं है। अपने सांस्कृतिक, व्यापारिक एवं सामाजिक कारणों के फलस्वरूप यहाँ बहुभाषिकता बहुत पहले से मौजूद है। भारत की संस्कृति इतनी समृद्ध है कि लोग यहाँ कहते हैं, "कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी।" महानगरों के उदय एवं संचार माध्यमों का विकास हो रहा है जिस कारण अधिकाधिक व्यक्ति द्विभाषी या बहुभाषी होने की स्थिति को प्राप्त कर रहे हैं। भारत इन सबसे अछूता नहीं है। बहुभाषाभाषी राष्ट्र होने के कारण यहाँ यह स्थिति पहले से ही थी परन्तु इन सबसे इसके इस स्थिति को और समृद्ध किया है।

सन्दर्भ सूची:

1. समाज विज्ञान विश्वकोश, संपादक-अभयकुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन
2. इतिहास: क्यों-क्या-कैसे, लाल बहादुर वर्मा हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
3. इतिहास-लेख, ई.श्रीधरन ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रकाशन
4. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ राजकमल प्रकाशन
5. आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह, वाणी प्रकाशन
6. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन
7. निबंध-दृष्टि, डॉ. विकास दिव्यकीर्ति, निशान्त जैन, दृष्टि पब्लिकेशन्स, मुखर्जी नगर
8. समष्टि अर्थशास्त्र : एक परिचय, सी. सेल्वराज, राहुल नीलकान्तन, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 2003
9. सांख्यिकी के मूल तत्त्व, कैलाश नाथ नागर, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1996
10. सांख्यिकी, डॉ. हरिश्चंद्र शर्मा, रमेश बुक डिपो, जयपुर, 1964

11. सांख्यिकी के सिद्धांत, देवकीनन्दन एलहँस, किताब महल, इलाहबाद, 1958
12. अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांत, भगवानदास अवस्थी
13. व्यष्टि एवं समष्टि अर्थशास्त्र, माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान
14. व्यष्टि अर्थशास्त्र के सिद्धांत, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
15. निवेदिता मेनन (2008), 'पॉवर', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली
16. बी. बैरी (सम्पा.) (1976), पॉवर एंड पॉलिटिकल थियरी, विली, लंदन
17. स्टीवन ल्यूक्स (सम्पा.) (1980), पॉवर, ब्लैकवेल, ऑक्सफर्ड
18. मिशले फूको, पॉवर/नालेज: सिलेक्टिड इंटरव्यूज़ एंड द अदर राइटिंग्स 1972-1977, हारवेस्टर व्हीटशीफ, लंदन
19. रॉबर्ट डाह्ल (1956), अ प्रिफेस टू डेमोक्रेटिक थियरी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो
20. जे. बरनौर और डी. रैसमुसेन (सम्पा.) (1998), द फाइनल फूको, एमआइटी प्रेस, कैम्ब्रिज
21. के. डायसन (1980), द स्टेट ट्रेडिशन इन वेस्टर्न यूरोप, मार्टिन राबर्टसन, ऑक्सफर्ड

22. डेविड हेल्ड (1998), पॉलिटिकल थियरी एंड मॉडर्न स्टेट, वर्ल्ड व्यू-माया पब्लिशर्स, नयी दिल्ली
23. फ्रेंज फानो (1967), ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क्स, अनु. चार्ल्स लैम मार्कमैन, ग्रोव प्रेस, न्यूयॉर्क
24. एडवर्ड विलियम सर्द (1978), ओरिएंटलिज़म : वेस्टर्न कंसेप्शंस ऑफ ओरिएंट, पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ
25. होमी के. भाभा (1990), नेशन एंड नैरेशन, रॉटलेज, लंदन
26. होमी के. भाभा (1994), द लोकेशन ऑफ कल्चर, रॉटलेज, लंदन
27. गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1990), द पोस्टकोलोनियल क्रिटिक: इंटरव्यूज़, स्ट्रेटजीज़, डायलॉगज़, साराह हैरिसिम. (सम्पा.), रॉटलेज, न्यूयार्क
28. क्यू.आर.डी. स्किनर (1978), मैकियावेली, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफर्ड
29. एस. पीटर डोनाल्डसन (1989), मैकियावेली एंड मिस्ट्री ऑफ स्टेट, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज
30. एस. टर्नर (1990), द कैम्ब्रिज कंपेनियन टु वेबर, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज

31. डेविड हेल्ड (1989), 'पॉवर एंड लेजिटिमेसी', संकलित :पॉलिटिकल थियरी एंड द मॉडर्न स्टेट:एसेज़ ऑन स्टेट, पॉवर एंड डेमोक्रेसी, स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस स्टेनफोर्ड.
32. डेविड बीथम (1988), द लेजिटिमेशन ऑफ पॉवर, पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज
33. कार्ल श्मिड्ट (2004), लीगैलिटी एंड लेजिटिमेसी, अनु. और सम्पा. जेफरी सीट्ज़ेर, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, डरहम
34. ज्याँ हैम्पटन (1988), हॉब्स एंड द सोशल कांट्रैक्ट ट्रेडीशन, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, यूके
35. डेविड हेल्ड (1989), पॉलिटिकल थियरी टुडे, पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, यूके
36. एफ.एच. हिंसले (1986), सोवरिनटी, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, यूके
37. राजनीति विज्ञान के सिद्धांत, डॉ.पुखराज जैन, साहित्य भवन, आगरा, सोलहवा संस्करण - 1988
38. समाज विज्ञान विश्वकोश, खंड 1-6, सम्पादक अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 2016

39. पपिया सेनगुप्ता तालुकदार, 2008, 'राइट्स', संकलित: राजीव भार्गव और अशोक आचार्य, सम्पा. पॉलिटिकल थियरी: ऐन इंट्रोडक्शन, पियर्सन एजुकेशन, नयी दिल्ली
40. ऐंड्रू हेवुड, 2004, 'राइट्स, ऑब्लिगेशंस ऐंड सिटीज़नशिप, पॉलिटिकल थियरी: ऐन इंट्रोडक्शन, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क
41. रोनल्ड ड्वॉरकिन, 1994, टेकिंग राइट्स सीरियसली, संशोधित संस्करण, डकवर्थ, लंदन
42. आर. मार्टिन , 1993, अ सिस्टम ऑफ राइट्स, क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफर्ड
43. जे.एच. हटन, 1961, कास्ट इन इण्डिया, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली
44. योगेश अटल , 2006, चेंजिंग इण्डियन सोसाइटी, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर
45. माइकेल जोसेफ ओकशॉट, 1991, रैशनलिज़म इन पॉलिटिक्स एंड अदर एसेज़, मेथ्युन, लंदन, संशोधित संस्करण
46. एन. ओसुलीवान, 1976, कंज़रवेटिज़म, डेंट, लंदन
47. हरबंस मुखिया, सम्पा.1999, द फ्यूडलिज़म डिबेट, मनोहर, नयी दिल्ली

48. एंड्रू हेवुड, 2004, 'ट्रेडिशन, प्रोग्रेस एंड यूटोपिया', पॉलिटिकल थियरी :
ऐन इंट्रोडक्शन, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क
49. रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग, 1899/1937, रिफॉर्म ऑर रेवोल्यूशन, थ्री एरोज़,
न्यूयॉर्क
50. एडुअर्ड बर्नस्टीन, 1909, इवोल्यूशनरी सोशलिज़्म, आईएलपी, लंदन